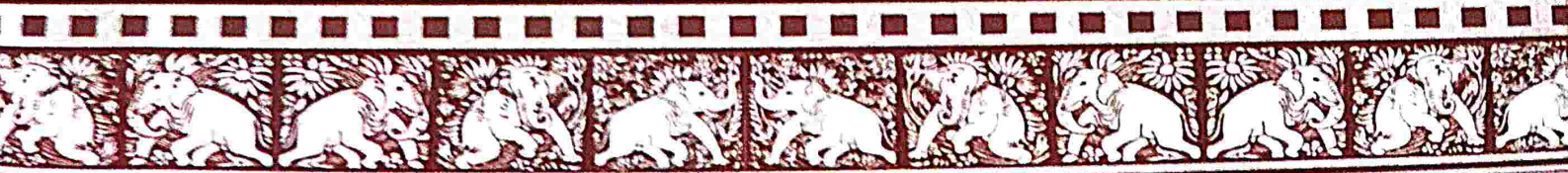
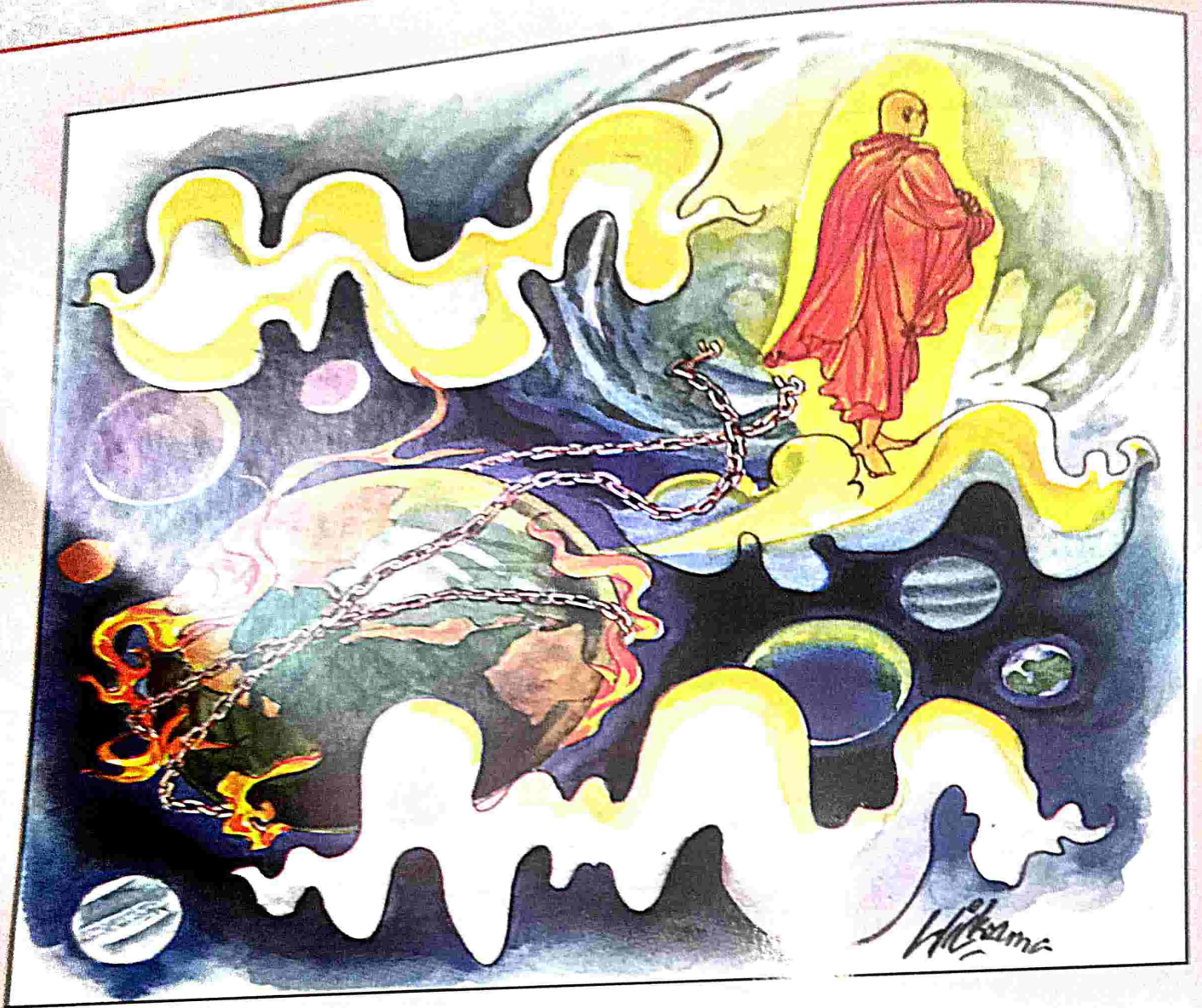




अरहन्त वग्गो

THE SAINT





गतद्धिनो विसोकस्स, विप्पमुत्तस्स सब्बधि ।
सब्बगन्धप्पहीनस्स, परिलाहो न विज्जति ।।

अर्थ : जिसने मार्ग तय कर लिया है, जो शोक-रहित तथा सर्वथा विमुक्त है, जिसकी सभी ग्रन्थियां प्रहीण (खुल) हो गई हैं, उसे कोई कष्ट नहीं ।

सभी रमणीय स्थल बन जाते हैं। ये सब उस वीतरागी के लिए अरण्य ही होते हैं, वह अरण्य में रमण करता है। भगवान् तथागत ने मानवीय व्यक्तित्व के जिन स्तरों को उपदिष्ट किया है। वे चाहे स्रोतापन्न हों या सकृदागामी, अनागामी हों या पृथक् जन, उनमें अर्हत् मानवीय व्यक्तित्व के ऊर्ध्वगामी विकास का सर्वोच्च स्तर है, जिसे प्रत्येक प्राणी पा सकता है, अपने व्यक्तित्व में संजो सकता है। ऐसा सर्वोच्च पुरुष अर्हत् होता है, सन्त होता है। उसके कोई दुश्मन नहीं होते हैं, कोई वैरी नहीं होते हैं। राग-द्वेष-मोह आदि वृत्तियां शान्त हो जाती हैं। वह दुश्मनों (अरि) का हनन नहीं करता है, वस्तुतः उसके कोई दुश्मन ही नहीं होते हैं। अस्तु, वह अरिहन्त (दुश्मनों का नाश करने वाला) से अर्हत् (जिसका कोई दुश्मन नहीं, ऐसा) बन जाता है।

बौद्ध जगत् में अर्हत् को बोधिसत्त्व की उपमा देकर भी अभिधेय किया जाता है। वह सारे जगत् का त्राता बनने का भाव अपने में रखता ही नहीं है, बल्कि दुनिया के दुखों को दूर करने में प्रवृत्त हो जाता है। इस वग्ग की गाथाओं में अर्हत् को हंस, पृथ्वी, इन्द्रकील (मन्दराचल), तालाब, सारथी आदि विभिन्न आलम्बनों के माध्यम से व्याख्याबद्ध किया गया है, ताकि सामान्य जन व्यक्तित्व की इस ऊंचाई को सहज रूप से समझ सकें। चित्त को वश में करना कठिन है, परन्तु ऐसा नहीं है कि वह वश में होता ही न हो। उदण्ड से उदण्ड घोड़े को कुशल सारथी वश में कर लेता है और ऐसा वशीभूत घोड़ा सारथी के अत्यल्प इशारे पर उद्यत हो जाता है, वैसे ही अर्हत् इस दुर्वशनीय चित्त को अपने काबू में करके शान्त चित्त हो जाता है। जंगल या गांव, ऊबड़-खाबड़ या समतल स्थूल जीवन के विविध पक्षों को सहज रूप से हमें बोधगम्य बनाती हैं। निःसन्देह धम्मपद की ये अनूठी गाथाएं मानवीय चेतना की इन ऊंचाइयों को प्राप्त करने की प्रेरणा देती हैं।

7. अरहन्त वग्गो

2. गाथाएं

वग्ग 7, गाथा 1

विमुक्त को कष्ट नहीं

(जीवक की कथा, स्थान—जीवकम्बवन, राजगृह)

90. एक समय भगवान् गृद्धकूट पर्वत की छाया में चारिका कर रहे थे। देवदत्त उस पर्वत पर था। उसने विचार किया तथागत को मारने का उपयुक्त मौका है, अवसर है। उसने एक प्रस्तर-शिला तथागत के उतार फेंक दी। शिला गिर गयी, टूट गयी, उसकी पपड़ी उछली, भगवान् को आहत किया, भगवान् के पैर में लग गयी। भगवान् के पैर के अंगूठे में लगी थी, रुधिर बहने लगा, रक्त झरने लगा। वह घाव पैर पर फरसे से लगे घाव की तरह मालूम होता था।

भिक्षुओं ने परस्पर विचार किया, परामर्श किया और तय हुआ, राजगृह जाने का, जीवक के अम्बवन में जाने का। भगवान् चले, भिक्षुसंघ चला, सब विहर पड़े और जीवक के अम्बवन में पहुंच गए। जीवक वहां था वह प्रसिद्ध भैषज्य था, डॉक्टर था, वैद्य था। उसने भगवान् की सेवा-सुश्रूषा की, दवा दी, अंगूठे पर मल्हम-पट्टी बांध दी। भगवान् की सेवा से निवृत्त हो वह अन्य रोगियों को देखने निकल पड़ा। इस आशा के साथ, इस विश्वास के साथ कि शाम को वह आकर भगवान् की मल्हम पट्टी खोल देगा, तथागत का पांव ठीक हो जायेगा। रोगी बहुत थे, बीमार बहुत थे, उसे समय लग गया। देर बहुत हो चुकी थी, वह वापस तथागत के पास जाना चाहता था,

उनकी मल्हम पट्टी खोलना चाहता था, परन्तु नगर के सभी दरवाजे बन्द हो गए, उसके जाने का कोई रास्ता खुला नहीं था। वह उस शाम, उस रात तथागत के पास नहीं जा सका।

भगवान ने आनन्द को बुलाया। पट्टी खुलवायी धाव दुरुस्त था, ठीक था। दूसरे दिन सुबह जीवक भगवान के विहार में जाता है, उन्हें अभिवादन करता है, स्तवन करता है, वन्दना करता है और भगवान से पूछता है, “रात को दर्द था..... तकलीफ तो नहीं हुई।” भगवान बोले, “जीवक! जब से बोधि लाभ प्राप्त किया है, मुझे कोई दुख नहीं, दर्द नहीं, तकलीफ नहीं, सन्ताप नहीं।”

उन्होंने धर्म प्रविचय किया। वे बोले, “जो किनारे पर पहुँच गया है, निर्वाण को प्राप्त कर चुका है, जिसका मार्ग समाप्त हो गया है, जिसने अपने आपको शोकरहित और सर्वथा विमुक्त कर लिया है, सब तरह की ग्रन्थियों का परिहार कर लिया है, उसके लिए कोई सन्ताप नहीं है। संसार यात्रा पूरी कर लेने वाले, शोकरहित, सभी तरह से मुक्त और जिसके सभी सांसारिक बन्धन नष्ट हो गए हैं, उस व्यक्ति के लिए न तो शारीरिक और न मानसिक क्लेश ही रहता है, उसे कोई कष्ट नहीं रहता है।” उन्होंने उस समय यह गाथा कही—

90. गतद्धिनो विसोकस्स, विप्पमुत्तरस्स सब्बधि।

सब्बगन्थप्पहीनस्स, परिलाहो न विज्जति॥ 7.1॥

अर्थ : जिसने मार्ग तय कर लिया है, जो शोक-रहित तथा सर्वथा विमुक्त है, जिसकी सभी ग्रन्थियां प्रहीण (खुल) हो गई हैं, उसे कोई कष्ट नहीं।

शब्दार्थ : गतद्धिनो = उस व्यक्ति का जिसने संसार-यात्रा पूरी कर ली हो। सब्बधि = सभी प्रकार से। सब्बगन्थप्पहीनस्स = जिसके सभी सांसारिक बन्धन टूट गए हों। ‘गन्थ’ जिन्हें ‘कायगन्थ’ भी कहा जाता है, चार हैं—अभिज्झा, व्यापाद, सीलब्बतपरामास और इदंसच्चाभिनिवेस। परिलाहो = दुख। यह परिदाह कायिक और चैतसिक दो प्रकार का है। न विज्जति = नहीं रहता।



वग्ग 7, गाथा 2



स्मृतिमान् आलय को त्याग देते हैं

(महाकस्सप थेर की कथा, स्थान—राजगृह का वेणुवन)

91. भगवान राजगृह में अपने भिक्खुसंघ के साथ वर्षावास व्यतीत कर रहे थे, वर्षावास समाप्त होने के दो सप्ताह पूर्व भगवान ने भिक्खुओं को सम्बोधित किया और कहा कि वे जल्दी ही राजगृह से अन्यत्र चलेंगे, सभी अपनी-अपनी तैयारी कर लें। भिक्खु अपनी-अपनी तैयारी में लग गए, कुछ अपना चीवर ठीक करने लगे, कुछ सीने लगे, कुछ धोने लगे। महाकस्सप उस विहार के आवासिक थे, वहां पर उनके बहुत से उपासक थे, श्रद्धालु थे, वे भी अपना चीवर धोने लगे। प्रस्थान की तैयारी करने लगे।

अन्य भिक्खुओं ने महाकस्सप को भी अपना चीवर धोते हुए देखा, उन्हें तैयार होते हुए देखा, तो वे आपस में बातें करने लगे, “आवुसो ! महाकस्सप के राजगृह में, राजगृह के आस-पास बहुत

से उपासक हैं, वे उनका बहुत ही अच्छी तरह से ध्यान रखते हैं, उनमें श्रद्धा रखते हैं, उनसे प्रेम रखते हैं। यह कैसे हो सकता है कि महाकस्सप उनको छोड़कर भगवान के पीछे-पीछे उनका अनुगमन करें।”

समय व्यतीत हो गया, जाने के क्षण नजदीक आए, सभी उद्यत हुए, जाने लगे। भगवान को ध्यान आया, उपासक लोग भोजनदान देते हैं, नये सामनेर संघ में प्रविष्ट होते हैं, और अन्य भी अवसर आते हैं। अतः पूरे विहार को भिक्खुरहित छोड़ना ठीक नहीं है, किसी न किसी को यहां रहना चाहिये। ऐसा विचार करके उन्होंने महाकस्सप को वहीं रहने का निर्देश दिया, अस्तु, महाकस्सप कुछ भिक्खुओं के साथ वहां आकर ठहर गए, रुक गए।

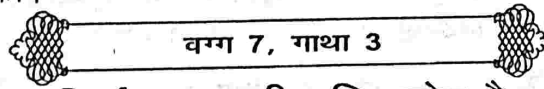
तब कुछ भिक्खु आपस में बतियाने लगे, “हम कह ही रहे थे कि महाकस्सप भगवान के साथ नहीं चलेंगे.....।” भगवान ने उन भिक्खुओं की वार्ता सुनी, तो वे बोले, “भिक्खुओ ! क्या तुम यह कहना चाहते हो कि महाकस्सप राजगृह में अपने उपासकों से अभिसिक्त हैं, आसक्त हैं। उपासक उन्हें जो उपहार देते हैं, उनमें वे अनुरक्त हैं। भिक्खुओ ! तुम गलती कर रहे हो, महाकस्सप यहां मेरे आदेश से रुक रहे हैं। वे यहां पर किसी चीज में आसक्त नहीं हैं, किसी में उनका मोह नहीं है, राग नहीं है। बुद्धिमान व्यक्ति तो निर्वाण प्राप्त करने का ही प्रयत्न करते हैं, उन्हें घर से, आवास से मोह नहीं होता है। वे अपने निज घर को भी निर्वाण प्राप्ति के लिए उसी प्रकार छोड़ देते हैं, जिस प्रकार अपनी सुरक्षा और आजीविका के लिए वर्षा ऋतु में हंस अपने घर (तालाब) को छोड़ देता है। सतीमान (स्मृतिवान्) लोग उद्योग करते हैं, वे घर में रमण नहीं करते हैं, वे ध्यान विपश्यना आदि में लगे रहते हैं, वे आलय में रत नहीं होते हैं, वे तो सरोवर को छोड़ कर अन्यत्र चले जाने वाले उस हंस की भांति हैं, जो अपने भले के लिए आलय का त्याग कर देते हैं।” तब भगवान ने यह गाथा कही—

91 उय्युज्जन्ति सतीमन्तो न निकेते रमन्ति ते।

हंसा'व पल्ललं हित्वा ओकमोकं जहन्ति ते॥ 7.2 ॥

अर्थ : जो स्मृतिमान् (ध्यान विपश्यना आदि) (उद्योग) में लगे रहते हैं, वे घर में रत नहीं होते। वे तो सरोवर को छोड़ चले जाने वाले हंस की भांति घर को त्याग देते हैं।

शब्दार्थ : उय्युज्जन्ति = प्रयत्न करते हैं। सतीमन्तो = बुद्धिमान लोग। पल्ललं = तालाब को। ओकं = जल। मोकं = घर अर्थात् जलीय घर को।



वग्ग 7, गाथा 3

निर्वाणप्राप्त की गति अज्ञेय है

(बेलट्टिसीस थेर की कथा, स्थान—जेतवन)

92. थेर बेलट्टिसीस एक बार भिक्खाटन को निकले, उन्होंने द्वार-द्वार घूम कर भिक्खा ली और चल दिये। चलते-चलते वे राह में रुके, क्योंकि फिर भिक्खा लेने की बात उनके मन में आयी थी।

अस्तु, वे फिर गांव में द्वार-द्वार घूम कर भिक्षा ग्रहण करने लग गए। जब उन्होंने सोचा कि अब पर्याप्त भिक्षा प्राप्त हो गयी है, तो वह विहार में आ गए। उस भिक्षा को उन्होंने सुखा कर, संजो कर रख दिया और ध्यान विषयना में रत हो गए। अब उन्हें और भिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रह गयी थी, वे दो-तीन दिन लगातार साधनारत रहे। जब वे ध्यान साधना से उठते तो उन संग्रहित चावलों को पानी में भिगो कर अपनी क्षुधा को शान्त कर लेते और पुनः ध्यानरत हो जाते थे।

दूसरे भिक्षुओं ने यह सब देखा और सोचा—संग्रह करना, परिग्रह करना विनय के विपरीत है, भगवान के उपदेशों के प्रतिकूल है। यह बेलट्टिसीस ऐसा करता है, यह गलत है, यह भिक्षु का दोष है। वे इसको भगवान को बतायेंगे, उनसे निवेदन करेंगे और अन्ततः भगवान तक यह बात पहुंच ही गयी। बेलट्टिसीस ने चावलों का परिग्रह किया था, अपरिग्रह के नियम का उल्लंघन किया था, परन्तु इसके पीछे उसका लालच नहीं था, तृष्णा नहीं थी, वह तो अपने ध्यान में व्यस्त रहने के कारण, समय बचाने के कारण, विषयना में समय लगाने के कारण ऐसा कर बैठा था।

अतः भगवान बोले, “भिक्षुओ ! जिनके पास दोनों प्रकार का संचय नहीं है, जो भोजन के सम्बंध में सुविज्ञ हैं तथा जिन्हें शून्य और निरपेक्ष दोनों प्रकार के मोक्ष का गोचर है, उनकी गति का अनुसरण उतना ही कठिन है, जितना कि आकाश में पक्षी की गति का अनुसरण। जो कर्म-संचय और प्रत्यय-संचय नहीं करते हैं, जिनका भोजन परिज्ञात है, जिन्हें शून्यता-स्वरूप तथा निमित्त रहित मोक्ष दिखाई पड़ता है, उनकी गति उसी प्रकार कठिनाई से जानने योग्य है, जिस प्रकार आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की गति कठिनाई से जानने योग्य होती है।” भगवान ने तब यह गाथा कही—

92. येसं सन्निचयो नत्थि, ये परिज्जातभोजना।

सुज्जतो अनिमित्तो च, विमोक्खो येस्स गोचरो।

आकासे'व सकुन्तानं, गति तेसं दुरन्नाया।। 7.3।।

अर्थ : जिन्हें कोई संग्रह नहीं, जो भोजन में संयत हैं, शून्य और अनिमित्त विमोक्ष (=निर्वाण) जिनका गोचर (=विचरण स्थान) है, उनकी गति, आकाश में पक्षियों की गति की भांति अज्ञेय है।

शब्दार्थ : सन्निचयो = संचय का कोष। यह दो प्रकार का है—कर्म में कुशलता को ‘कम्मसन्निचयो’ और चार प्रत्ययों के समवाय को ‘पच्चयसन्निचयो’ कहते हैं। परिज्ञातभोजना = भोजन के सम्बंध में सुविज्ञ। भोजन के सम्बंध में तीन परिज्ञायें बताई गई हैं—जातपरिज्ञा, तिरणपरिज्ञा, पहानपरिज्ञा। सुज्जतो = शून्य रूप। अनिमित्तो = निरपेक्ष। सकुन्तानं = पक्षियों की। दुरन्नाया = कठिनाई से अनुसरण करने योग्य।



वग्ग 7, गाथा 4



निर्वाणप्राप्त की गति अज्ञेय है

(अनुरुद्ध थेर की कथा, स्थान—राजगृह वेणुवन)

93. शुद्धोदन के छोटे भाई अमृतोदन के दो पुत्र थे—महानाम और अनुरुद्ध। अनुरुद्ध बड़े

लाड़-प्यार से पला था, बड़ा हुआ था। एक बार महानाम ने विचार किया, सभी क्षत्रिय कुमार, शाक्य कुमार प्रव्रज्या ले रहे हैं, प्रव्रजित हो रहे हैं। अस्तु, अपने कुटुम्ब से भी, परिवार से भी किसी को प्रव्रजित होना चाहिये। ऐसा सोचकर वह अनुरुद्ध के पास गए और इसके बारे में उनसे पूछा। अनुरुद्ध ने कहा, “होना चाहिये भाई !..... मुझसे घर छोड़ा नहीं जायेगा, आप ही प्रव्रज्या ले लें।” महानाम ने उसे गृहरथी की जिम्मेवारी समझायी। अनुरुद्ध इस प्रपंच को सुनकर उद्विग्न हो गया। बोला, “क्या इसका कभी अंत होगा ?” महानाम का उत्तर था, “इस क्रम का कभी अन्त नहीं होगा..... कर्मों को बिना समाप्त किए हमारे पूर्वज दिवंगत हो गए।” वह मां के पास गया और प्रव्रज्या की अनुमति मांगी..... भद्रिय के पास गया..... साथ मांगा..... उपालि के पास गया, वह भी साथ हुआ.....। सभी प्रव्रजित हो गए, भिक्षुसंघ में प्रविष्ट हो गए। अनुरुद्ध को भगवान का हृदय कहा जाता है।

वही अनुरुद्ध एक दिन वेणुवन राजगृह में विहार कर रहे थे, उनका चीवर जीर्ण-शीर्ण हो गया था, फट गया था। भिक्षु पांशुकूल अर्थात् चिथड़े इकट्ठा करके अपना चीवर बनाते थे, उसे पांशुकूल कहते थे। अनुरुद्ध कूड़े-कचरे में, कूड़ेदानों में, घूरों में चीवर बनाने के लिए चिथड़े खोज रहे थे। उसकी पूर्व भार्या जालिनि ने तावतिस भवन से अनुरुद्ध को देखा, उसके फटे चीवर को देखा, उसे कूड़ाखाने में, घूरे में कपड़ा बीनते देखा, कपड़ा ढूँढते देखा। अनुरुद्ध के आने से पूर्व वह एक ढेर पर आयी और वहां पर तेरह हाथ लम्बा और चार हाथ चौड़ा वस्त्र रख कर चली गयी। अनुरुद्ध वस्त्र चुनते-चुनते उस ढेर पर पहुंचे, उनकी दृष्टि उस पर पड़ी वह वस्त्र उन्होंने उठा लिया और विहार को चल दिये।

दूसरा दिन था। भिक्षु चीवर सी रहे थे, अनुरुद्ध भी अपना चीवर सीने लगा। भगवान भी वहीं थे। अनुरुद्ध की पूर्व भार्या जालिनी नगर में प्रविष्ट हुई और नगर में घोषणा करवा दी, “भिक्षुगण आज भिक्षाटन निमित्त नगर में प्रवेश नहीं करेंगे, विहार में ही दानस्वरूप भोज्य-सामग्री पहुंचा दी जाय।”

मध्यान्तर पूर्व ही विहार में यवागू, भात तथा अन्य भोजन इतनी मात्रा में पहुंचा दिया गया कि भिक्षुओं को भिक्षाटन हेतु जाना ही नहीं पड़ा। इतना अधिक भोज्य पदार्थ था कि वह बच भी गया। भिक्षुओं में बात हुई, बात चली, अनुरुद्ध के किसी सम्बंधी के कारण भोज्य पदार्थ आया है, जरूर अनुरुद्ध ने अपने सम्बंधी को कहा होगा, इतनी पर्याप्त भोजन सामग्री को भेजने के लिए। वे बोले, “आवुसो! अनुरुद्ध यह जताना चाहता है कि उसके यहां बहुत से श्रद्धालु हैं।” भिक्षुओं में काना-फूसी होने लगी। भगवान तक भी बात पहुंच ही गयी।

भगवान ने कहा, “भिक्षुओ ! क्या अनुरुद्ध ने यह सामग्री मंगायी है। किसी ने कहा—हां, किसी ने कहा— अनुरुद्ध ने नहीं मंगायी है। किसी ने कहा— हमने यही सुना है। भगवान ने कहा, “आयुष्मानो ! क्षीणास्रव आहार सम्बंधी बात नहीं करते हैं। यह तो जालिनि का अनुभाव है, उसके द्वारा आया है। अनुरुद्ध क्षीणास्रव है, उसके चित्त के मैल क्षीण हो गए हैं। और जिसके चित्त के

मैल क्षीण हो गए हैं, जो आहार में अनासक्त है, जिसे शून्यता स्वरूप तथा निमित्त रहित निर्वाण दिखायी पड़ता है, उसकी गति उसी प्रकार कठिनाई से जानने योग्य है, जिस प्रकार आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की गति कठिनाई से जानने योग्य होती है।” भगवान ने गाथा कही—

93. यस्सा'सवा परिकखीणा, आहारे च अनिस्सितो।

सुञ्जतो अनिमित्तो च, विमोक्खो यस्स गोचरो।

आकासे'व सकुन्तानं, पदं तस्स दुरन्नयं॥ 7.4॥

अर्थ : जिसके आस्रव (=मल) क्षीण हो गए हैं जो आहार में आसक्त नहीं तथा शून्य और अनिमित्त विनोद जिसका गोचर (लक्ष्य) है, उसकी गति आकाश में पक्षियों की गति की भांति अज्ञेय है।

शब्दार्थ : आहारे = विषयोपभोग। अनिस्सितो = उदासीन



वग्ग 7, गाथा 5



अर्हत् की देवता स्पृहा करते हैं

(महाकात्यायन थेर की कथा, स्थान—पुब्बाराम सावत्थि)

94. अवन्ति देश में एक नगर था— उज्जैन। वहां एक पुरोहितों का कुटुम्ब रहता था, उसी कुटुम्ब में महाकात्यायन ने जन्म लिया था। वह तीनों वेदों का ज्ञाता था, ज्ञानी था, बुद्धिमान था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वह अवन्ति के राजा चण्डप्रद्योत का पुरोहित बना। राजा को मालूम हुआ कि लोक में बुद्ध पैदा हुए हैं, उन्हें उज्जैन बुलाना चाहिये, आमन्त्रित करना चाहिये। मन्त्रियों से मंत्रणा की, सलाह ली, कात्यायन को भेजने का तय हुआ। राजा ने कात्यायन को कहा, “आप बुद्ध के पास जाईये और आदर सहित उन्हें लिवा लाईये।” महाकात्यायन बोला, “जाने को तैयार हूँ, राजन ! वहां जाना स्वीकार है मुझे, किन्तु प्रव्रजित होते आऊं तो।” राजा बोला, “जैसी तुम्हारी इच्छा, किन्तु तुम्हें तथागत को लाना होगा।”

मार्ग में कठिनाइयों का सामना करता हुआ कात्यायन अपने सात साथियों के साथ भगवान के पास पहुंचा। उनकी वन्दना की, स्तवन किया। भगवान ने कुशल-क्षेम पूछी, उपदेश दिया तुरन्त महाकात्यायन प्रव्रजित हो गया। वह उज्जैन चला गया, भगवान नहीं गए। महाकात्यायन विपश्यना-ध्यान करने लगे व मार्ग में आरुढ़ हो गए। महाकात्यायन धम्म प्रवचन करते थे, ध्यान विहार करते थे।

भगवान पूर्वाराम विहार में बैठे थे, पूर्णिमा का दिन था। उनका भिक्षुसंघ भी उनके साथ था। भगवान के अग्र-शिष्य उनके साथ थे, एक आसन खाली था, महाकात्यायन के लिए, वे अवन्ति में थे। वर्षावास खत्म हो चुका था, उन्हें तथागत के पास आना था। इन्द्र ने यह नजारा देखा, उसके मन में विचार आया, भगवान को श्रद्धावनत हो आर्यें, कुछ भेंट उपहार दे आवें। वह गया, भगवान को पुष्प आदि भेंट किए, स्तवन किया, वन्दना की। जब उसने एक आसन को खाली देखा, तो जिज्ञासा हुई, उसे मालूम हुआ कि यह आस महाकात्यायन के लिए है, तो उसने उन्हें भी आदर

भाव दिया, इसी दरम्यान महाकात्यायन वहाँ आ गए। इन्द्र तो बहुत ही इच्छुक था, खुश हुआ—मुदित हुआ, उसने महाकात्यायन की पूजा-अर्चना की, बैठ दी, आदर दिया।

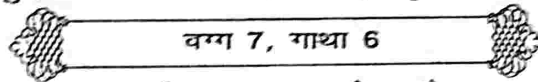
सब भिक्षु यह देख रहे थे, उनमें कानाफूसी होने लगी। इन्द्र तो महाकात्यायन का पक्ष ले रहा है। उसकी ऐसी बातें सुनकर भगवान ने कहा, “भिक्षुओं ! सारथी द्वारा दमन किए गए अश्व के समान जिसकी इन्द्रियां शान्त हो गयी हैं, ऐसे अहंकार रहित अनास्रव सन्त की अर्हत्ता भी, देवता भी चाह करते हैं, पूजा करते हैं। महाकात्यायन इन्द्रिय विजित है, उन्होंने अपने आपको संयत और संयमशीलता में अग्रणी बना लिया था। जैसे सारथी के द्वारा घोड़े को विनीत बना दिया जाता है, वैसे ही जो इन इन्द्रिय रूपी घोड़ों को विनीत बना देता है, उसकी सब ग्रन्थियां शिथिल हो जाती हैं, चित्त वृत्तियां शान्त हो जाती हैं। ऐसे जितेन्द्रिय की देवता भी स्पृहा करते हैं, ऐसे अभिमान रहित और आस्रव रहित मनुष्य की देवता भी चाह करते हैं।” ऐसा कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

94. यस्सिन्द्रियाणि समथं गतानि, अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता।

पहीनमानस्स अनासवस्स, देवापि तस्स पिहयन्ति तादिनो॥ 7.5॥

अर्थ : सारथी द्वारा दमन किए गए अश्व के समान, जिसकी इन्द्रियां शान्त हो गई हैं, ऐसे अहंकार रहित अनास्रव सन्त (=अर्हत्) की देवता भी स्पृहा (=चाह) करते हैं।

शब्दार्थ : समथं = शमन। सुदन्ता = विनीत। पिहयन्ति = स्पृहा करते हैं। तादिनो = उस प्रकार के।



वग्ग 7, गाथा 6

अर्हत् अकम्प्य होता है

(सारिपुत्त थेर की कथा, स्थान—जेतवन)

95. वर्षावास का समापन हो चुका था, सभी भिक्षु अपनी चारिका हेतु जाने के लिए तैयार हो रहे थे, जाने लगे थे। सारिपुत्त भी अपने शिष्यों के साथ विहार से जाने वाले थे। इतने में एक जवान भिक्षु भगवान के पास गया और बोला, “भगवान ! थेर सारिपुत्त उन्हें अपशब्द कहते हैं, पीटते हैं !” भगवान ने तुरन्त सारिपुत्त को बुलाया और उनसे पूछा। सारिपुत्त ने कहा, “भगवान ! जो भिक्षु काय विवेक करता है, वह अपनी यात्रा को उस भिक्षु से क्षमा मांगे बगैर कैसे शुरू कर सकता है। मैं तो इस पृथ्वी की तरह हूँ, जिस पर फूल गिरते हैं, तो भी उसे प्रमोद नहीं होता है और गन्दगी-कीचड़ गिरता है तो भी उसे रंज नहीं होता है। मैं तो पायदान की तरह हूँ, भिखारी की तरह हूँ, विना सींग के बैल की तरह हूँ। मैं इस काय की अपवित्रता से घृणा करता हूँ, और इसमें मेरी कोई आसक्ति नहीं है.....।”

जब सारिपुत्त ने ऐसा कहा तो उस तरुण भिक्षु को बड़ी शर्मिंदगी महसूस हुई और वह फूट-फूट कर रोने लगा और बोला, “मैंने अग्र-शिष्य सारिपुत्त पर झूठा ही इल्जाम लगाया है।” भगवान ने सारिपुत्त से कहा, “इसको माफ कर दो।” सारिपुत्त ने उसे माफ कर दिया और कहा

कि इस तरुण भिक्षु से भी अगर कोई गलती हुई हो तो उसे भी माफ करें। वहाँ पर उपस्थित सभी भिक्षुओं ने सारिपुत्त की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

भगवान् बोले, 'भिक्षुओं ! जिसने सहन शक्ति का पाठ सीख लिया है, पढ़ लिया है, धारण कर लिया है, वह इस पृथ्वी के समान है, उस झील के समान है, जिसमें मन्दगी नहीं है। जो सभी अवस्थाओं में पृथ्वी के समान विरोध नहीं करता है, 'मन्दराचल' के समान अविचलित है, कीचड़रहित तालाब के समान मलरहित है, उस व्यक्ति के पुनर्जन्म नहीं होते। जो पृथ्वी के समान क्षुब्ध नहीं होता है, जो इन्द्र के स्तम्भ के समान दृढ़ है, जो जलाशय के समान कीचड़ से शून्य है, उस मनुष्य के लिए संसार नहीं होता है। अर्हत् के ऐसे गुण बताकर भगवान् ने यह गाथा कही—

95. पृथ्वीसमो नो विरुज्जति, इन्द्रखीलूपमो तादि सुव्यतो।

रहदो'व अपेत-कहमो, संसारा न भवन्ति तादिनो॥ 7.6॥

अर्थ : जो पृथ्वी के समान क्षुब्ध नहीं होता, जो इन्द्रशील स्तम्भ के समान तटस्थ व्रत रखता है, जो सरोवर के समान कर्दम (कीचड़) से रहित है; ऐसे साधक पुरुष के लिए संसार के बंधन कृत्य नहीं रह जाते हैं।

शब्दार्थ : विरुज्जति = विरोध करता है। इन्द्रखीलूपमो = मन्दराचल के समान (सं. इन्द्रकीलोपमः)। तादिनो = तादृशः अर्थात् सुगति या दुर्गति में नहीं जाने के कारण जिसका संसरण नहीं होता है। अपेत कहमा = कीचड़ रहित। संसारा = पुनर्जन्म।



वग्ग 7, गाथा 7



अर्हत् शान्त होते हैं

(कोसम्बीवासी तिरस्स थेर की कथा, स्थान—जेतवन)

96. एक समय एक सात वर्ष के बालक को उसके पिता की आज्ञा से सामनेर की प्रव्रज्या दी जा रही थी। जब उसका मुण्डन किया जा रहा था, तो उससे पहले उसको ध्यान लगाने के बारे में बताया गया। जब उसके सिर के बाल उतारे जा रहे थे, तो वह ध्यान-मग्न था और सिर के बाल उतरते-उतरते ही वह अर्हत्त्व को प्राप्त हो गया। वह थेर तिरस्स के साथ रहने लगा।

एक बार थेर तिरस्स उस सामनेर को लेकर भगवान् बुद्ध को श्रद्धावनत होने के लिए सावत्थि प्रस्थान करते हैं। रास्ते में वे एक विहार में रात्रि-वासा करते हैं। थेर तिरस्स को जल्दी ही नींद आ गयी, परन्तु सामनेर तिरस्स थेर के आसन के पास सारी रात बैठा रहा। सुबह होने पर थेर ने सोचा कि अब समय हो गया है, सामनेर को उठाना चाहिये। उसने हाथ में पंखा लेकर सामनेर की ओर बढ़ाते हुए उसे आवाज लगायी। उस पंखे की डंडी सामनेर की आंख में जा लगी। एक हाथ से आंख को ढके हुए सामनेर थेर के सामने था। थेर ने उसे डांटा और बोले, 'सामनेर ! दोनों हाथों से वस्तुएं दो, भेंट दो, देनी चाहिये।' इस दरम्यान थेर को सामनेर की नेत्र-क्षति की जानकारी हुई। थेर तिरस्स बड़े उदास हुए, दुखी हुए और माफी मांगी।

सामनेर ने कहा, "पूज्य ! इसमें न तो आपका दोष है, न मेरा है ! यह तो कर्मों का दोष है, इसलिये आपको ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं है।" बात यहीं खत्म नहीं हुई। थेर तिस्स को बड़ा आघात लगा। वे सावत्थि पहुंचे। जेतवन विहार में भगवान विहरते थे। थेर तिस्स ने भगवान को सारी घटना सुनायी और बताया कि उसने आज तक जितने भी सामनेर देखे हैं, यह उन सबमें श्रेष्ठ है, आर्य है, प्रवर है। भगवान ने उनको सुना और धम्म प्रविचय किया, "जो मनुष्य यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति करने से विमुक्त और शान्त हो गया है, ऐसे मनुष्य का मन शान्त हो जाता है, उसकी वाणी और कर्म शान्त हो जाते हैं।" ऐसा कहते हुए यह गाथा कही—

96. सन्तं अस्स मनं होति, सन्ता वाचा च कम्म च।

सम्मदज्जा विमुत्तस्स, उपसन्तस्स तादिनो॥ 7.7॥

अर्थ : यथार्थ रूप से जानकर मुक्त हुए उपशान्त अर्हत् का मन शान्त होता है, वाणी और कर्म शान्त होते हैं।

शब्दार्थ : सन्तं = शान्त। सम्मदज्जा = सम्यक ज्ञान से।



वग्ग 7, गाथा 8



उत्तम पुरुष

(सारिपुत्त थेर के प्रश्नोत्तर की कथा, स्थान—जेटवन)

97. भगवान तथागत जेतवन विहार में थे। वहां पर भगवान के दर्शनार्थ, श्रद्धा-ज्ञापन हेतु तीस भिक्षु आये। भगवान यह जानते थे कि ये सभी भिक्षु अर्हत् बन सकते हैं एवं यह उपयुक्त अवसर भी है। अतः उन्होंने सारिपुत्त को बुलाया और उन भिक्षुओं की उपस्थिति में सारिपुत्त से कहा, "आयुष्मान, सारिपुत्त ! क्या तुम इस सच्चाई को, तथ्य को जानते हो कि इन्द्रियों पर ध्यान एकाग्र करके निर्वाण का साक्षात्कार किया जा सकता है।" सारिपुत्त ने निवेदन किया, "भगवान! इन्द्रियों पर निब्बान की अनुभूति मेरे लिए स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि मेरी आप में श्रद्धा है, यह उनके लिए है, जिन्होंने इसे अनुभूत नहीं किया है।"

सारिपुत्त ने जो जवाब दिया था, वह भिक्षुओं को ठीक से समझ में नहीं आया। तब भगवान ने उसका प्रविचय किया, व्याख्या की और बोले, "भिक्षुओ ! सारिपुत्त का उत्तर सिर्फ इतना है कि वह इस तथ्य को स्वीकार करता है कि निर्वाण की अनुभूति इन्द्रियों के एकाग्र ध्यान से की जा सकती है, लेकिन यह अनुभूति उसकी अपनी अनुभूति है। यह मात्र इसलिये नहीं है कि ऐसा एक ने या अन्य ने कहा है। सारिपुत्त को मेरे में श्रद्धा है, अच्छे और बुरे कर्म पर आस्था है।" वे आगे बोले, "अन्धविश्वास रहित, निर्वाण को जानने वाला, संयोजन को काट देने वाला, पुनर्जन्म के अवकाश से रहित और तृष्णा से परे जो व्यक्ति है, वह निश्चय ही उत्तम है।" तब भगवान ने यह गाथा कही—

१७. अस्सद्धो अकतरू च, सन्धिच्छेदो च यो नरो।

हतावकासो वन्तासो, स वे उत्तमपोरिसो ॥ ७.८ ॥

अर्थ : जो (अन्ध) श्रद्धा से रहित है, जो अकृत (=निर्वाण) को जानने वाला है, जो (संसार की) सन्धि का भेदन करने वाला है और जो उत्पत्ति रहित है तथा जिसने सारी तृष्णा का वमन (=त्याग) कर दिया है, वही उत्तम पुरुष है।

शब्दार्थ : असाद्धो = अश्रद्धालु। अकतरू = अकृतज्ञ। सन्धिच्छेदो = संधि मारने वाला। हतावकासो = निरवकाश। वन्तासो = निराश। स = ऐसा पुरुष।

सर्ग ७, गाथा ९

अर्हत्तों के विहरने की भूमि रमणीय

(खादिरवनीय रेवत थेर की कथा, स्थान—जेतवन)

१८. रेवत भगवान् बुद्ध के अग्रशिष्य सारिपुत्त का भाई था। सारिपुत्त के भाई-बहनों में वही बचा था, जिसने प्रव्रज्या ग्रहण नहीं की थी। उसके माता-पिता इस बात को लेकर बहुत उद्विग्न थे कि यह भी कहीं भिक्षु न बन जाय। अतः उन्होंने रेवत की अल्पायु में ही शादी तय कर दी। वह उस समय सात वर्ष का था। अपने विवाह सम्मेलन में वह एक बूढ़ी औरत से मिला, जो एक सौ बीस बरस की थी। उसे यह सत्य समझ में आ गया है कि सब वस्तुएं आयु और विनाश के अधीन हैं। वह घर से भाग जाता है और एक विहार में चला जाता है, जहां तीस भिक्षु निवास करते हैं। उन भिक्षुओं को सारिपुत्त पहले ही निवेदन कर चुके होते हैं कि अगर उसका भाई आ जाये और प्रव्रज्या लेना चाहे तो उसे प्रव्रजित कर दिया जाय। अस्तु, रेवत को प्रव्रजित कर दिया गया।

सामनेर रेवत ने उन भिक्षुओं से प्रव्रज्या ग्रहण कर ध्यान साधना हेतु एक जंगल में प्रवेश किया, जो कि उस विहार से तीस योजन दूर था। वर्षावास की समाप्ति पर रेवत को अर्हत्त्व का लाभ प्राप्त हुआ। सारिपुत्त ने रेवत से मिलने की भगवान् से इजाजत चाही, अपने भाई से मिलने की, अर्हत्त से मिलने की।

भगवान् ने कहा— वे भी चलेंगे। अस्तु, सारिपुत्त, सिवली और अन्य भिक्षुओं के साथ भगवान् रेवत के जंगल की ओर चल दिये। रेवत को उनके आगमन का ज्ञान हुआ, उसने अपने ब्रह्मि-प्रताप से बहुत ही सुन्दर विहार का निर्माण कर दिया। वह सभी भिक्षुओं के लिए पूर्ण सुविधाओं से सम्पन्न था। तथागत वहां ठहरे। वापस रवाना हुए, उसी रास्ते से वापस आ रहे थे। बीच में विशाखा द्वारा दान दिया गया पुब्बाराम (पूर्वाराम) विहार जो जेतवनाराम (सावत्थि) के पूर्व में पड़ता था, इसी कारण उसका नाम पुब्बाराम विहार पड़ गया था, वहां से वे विशाखा के घर भी गए। विशाखा ने उनकी स्तुति की, वन्दना की, पूरी आवभगत की और भगवान् से जिज्ञासा की कि रेवत के आवास की जगह अच्छी तो है। भगवान् ने वहां पर धम्म-प्रविचय करते हुए कहा, "जहां अर्हत्त लोग विचरण करते हैं, चाहे वह ग्राम हो या अरण्य, नीचा स्थान हो या ऊंचा स्थान, वह भूमि रमणीय है।" भगवान् ने ऐसा कहते हुए यह गाथा कही

98. गामे वा यदि वारज्जे निन्ने वा यदि वा थले।
यत्थारहन्तो विहरन्ति, तं भूमि रामणेय्यकं ॥ 7.9 ॥

अर्थ : गांव में या जंगल में, नीचे या ऊंचे, जहां कहीं अर्हत् विहार करते हैं, वह भूमि रमणीय बन जाती है।

शब्दार्थ : अरज्जे = वन में। निन्ने = गहरे गड्ढे में। रामणेय्यकं = रमणीक।



वग्ग 7, गाथा 10



अरण्य में वीतराग रमण करते हैं

(किसी स्त्री की कथा, स्थान—जेतवन)

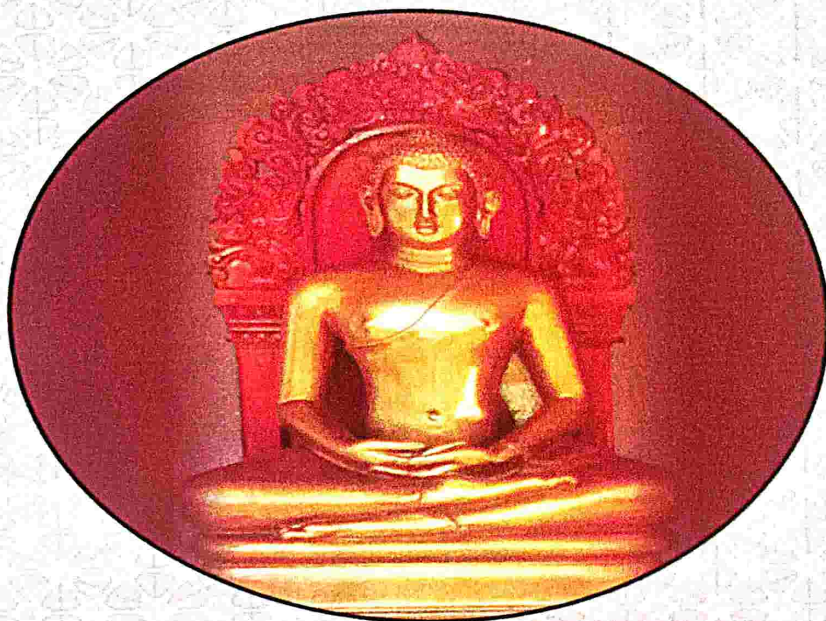
99. एक बार एक भिक्षु भगवान से ध्यान विपश्यना की शिक्षा ले कर ध्यान साधना लगाने हेतु पुराने बगीचे में चला गया। वहां साधनारत हो गया। वहां पर एक औरत आती है, वह उस भिक्षु को ध्यान मग्न देखती है। उसका ध्यान आकर्षित करने के लिए वह विभिन्न भाव-भंगिमाएं दिखाती है, करती है। उस भिक्षु का पूरा शरीर कांप उठता है, वह सहम जाता है, डर जाता है, तभी उसके शरीर में दिव्य स्फूर्ति जाग्रत होती है, उसे भगवान के वचन सुनायी देते हैं, "आयुष्मान ! जहां सांसारिक सुखों का स्थान है, वहां भिक्षुओं की जगह नहीं हो सकती है, भिक्षु को अरण्य में आनन्द की अनुभूति करनी चाहिये। वे अरण्य रमणीय है, जहां सामान्य लोग रमण नहीं करते हैं। ऐसे अरण्यों में वीतराग रमण करेंगे, क्योंकि वे कामवासनाओं के अन्वेषक नहीं हैं, उसे ढूंढने वाले नहीं हैं। उन रमणीय अरण्यों में जहां साधारण लोग रमण नहीं करते हैं, वहां काम वासनाओं के पीछे नहीं भटकने वाले वीतराग जन रमण करेंगे।" भगवान ने ऐसा कहते हुए यह गाथा कही—

99. रमणीयानि अरज्जानि, यत्थ न रमते जनो।
वीतराग रमिस्सन्ति, न ते कामगवेसिनो ॥ 7.10 ॥

अर्थ : वह रमणीय वन, जहां साधारण लोग रमण नहीं करते, वहां काम (=भोगों) को न खोजने वाले वीतराग रमण करेंगे।

शब्दार्थ : अरज्जानि = अरण्यानि अर्थात् अरण्य। यत्थ = जिन अरण्यों में। वीतराग = क्षीणास्रव। कामगवेसिनो = कामवासनाओं को ढूंढने वाले।

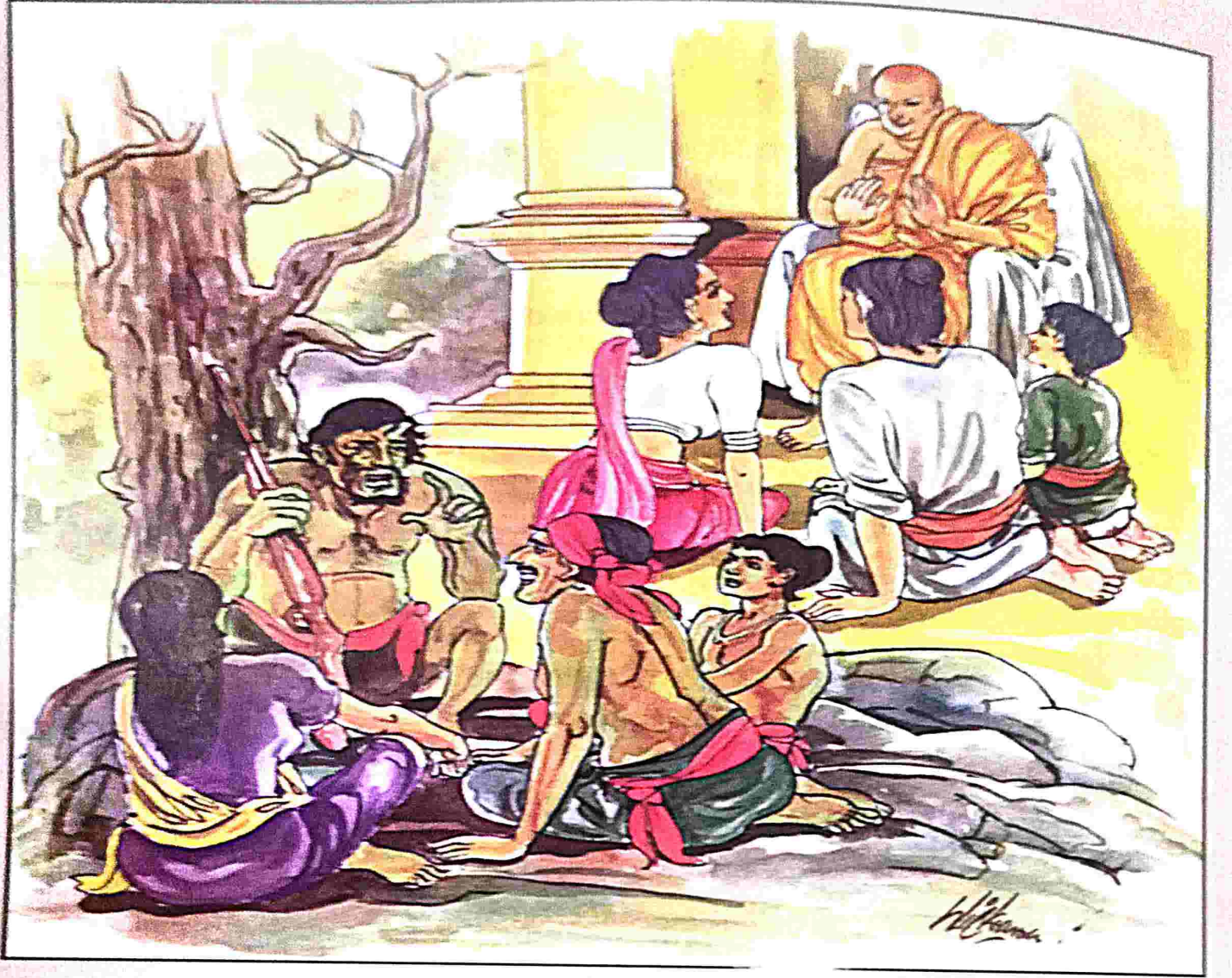




रहस्य वग्गो

THE THOUSAND





सहस्समपि चे वाचा, अनत्थपदसंहिता ।
एकं अत्थपदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति ॥

अर्थ : व्यर्थ के पदों से युक्त हजार वचन से भी, सार्थक एक पद श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर (मन) उपशान्त हो जाता है ।

8. सहस्त्र वर्गो (सहस्र वर्ग)

THE THOUSAND

1. वर्ग परिचय

धम्मपद में संकलित इस वर्ग की 16 गाथाओं में से पांच गाथाएं थेरी कुण्डलकेसा (कुण्डलकेसी), पटाचारा, किंसा गोतमी और बहुपत्तिका थेरी से सम्बंधित हैं। इनका गाथा क्रम 3, 4, 13, 14 व 15 है। पहली गाथा चोरों को दण्ड देने वाले चोर घातक (जल्लाद) तम्बदाठिक से सम्बंधित है, वहीं गाथा क्रम 5 व 6 अनर्थ पूछने वाले एक जुआरी ब्राह्मण से सम्बंधित है। जीवन से 'मुक्ति' चाहने वाले सुप्पदास थेर की गाथा क्रम संख्या 13 में उल्लेखित है। संकिच्च सामनेर की गाथा क्रम संख्या 9 में शील सम्पन्नता के बल को प्रदर्शित करती है। ऐसे ही दीघायुकुमार और सारिपुत्त मातुल थेर आदि की गाथाएं भी आयी हैं। इस वर्ग की गाथाओं में से 10 गाथाएं जेतवन से सम्बंधित हैं, 5 गाथाएं वेणुवन व 1 गाथा 'अरण्यकुटि' से सम्बंधित है।

ये सभी गाथाएं जीवन के गुणात्मक व मात्रात्मक मूल्यों पर बहुत ही उपयोगी 'ज्ञान-रश्मि' प्रदान करने वाली हैं। जीवन में मूल्यों के गुण और मात्रा कर्मकाण्डों से श्रेष्ठ हैं। जीवन में गुणों को धारण करने व सार्थकता को सार्थक पद, सार्थक गाथाएं, सार्थक धम्म-पद श्रवण के माध्यम से समझाने का बहुत ही उपयोगी उपागम प्रस्तुत करता है। इन श्रेष्ठ गुणों को धारण करने वाले को संग्राम विजयी से ज्यादा श्रेष्ठ बताया गया है, जिसे कोई पराजित नहीं कर सकता है, वह अपराजित हो जाता है। ऐसे स्वतत्त्व ज्ञानी की पूजा को श्रेष्ठ बताया गया है, चाहे वह एक क्षण भर ही क्यों न की जाय। फल की इच्छा के साथ कर्मकाण्ड से बेहतर है—अभिवादन करना और अभिवादनशील की आयु, वर्ण, सुख और बल बढ़ता है। वहीं दुराचारी और असंयमी तथा दुर्बुद्धि और असंयमी के सौ वर्ष के जीने से शीलवान, सदाचारी, प्रज्ञावान और ध्यानी के एक दिन के जीवन को श्रेष्ठ बताया गया है। 'उत्पत्ति और विनाश' धर्म को न देखते हुए सौ वर्ष जीने से इस धर्म को देखने वाले का एक दिन श्रेष्ठ बताया गया है। 'अमृतपद' का साक्षात्कार करने वाले का एक दिन इस 'अमृतपद' को नहीं देखने वाले के सौ वर्ष से श्रेष्ठ है। आलसी और वीर्यहीन से वीर्ययुक्त दृढ़वान पुरुष का एक दिन का जीवन ही श्रेष्ठ है। धर्म को देखते हुए एक दिन जीना ही श्रेष्ठ है।

इन सब गाथाओं में यह प्रतिध्वनित होता है कि सत्य की गहराई को समझना और सदाचार को धारण करना सर्वश्रेष्ठ है। सहस्र शब्द इन गाथाओं में एक हजार की संख्या को इंगित करने वाला शब्द मात्र नहीं है। इसकी सार्थकता बहुलता के अर्थ में प्रयुक्त है। चाहे वे एक हजार शब्द हों या दो हजार अथवा ऐसे कई शब्दों से सृजित एक हजार गाथाएं ही क्यों न हों, उनका कोई मूल्य नहीं, कोई महत्त्व नहीं है अगर वे जीवन को भवातीत आनन्द नहीं प्रदान करते हैं। वे सब निरर्थक हैं, अगर वे जीवन को प्रकाशित नहीं करते हैं। ऐसे शब्द, ऐसे पद, ऐसी गाथाएं या धार्मिक वृत्तान्त मात्र शब्द जाल हैं, वे निरूपण मात्र हैं। अस्तु, वे कितनी भी बहुलता या संख्या में क्यों न हों, जीवन के अन्तिम ध्येय हेतु लाभकारी नहीं हैं। इनको जानने के बाद उसको अपने अनुगमन व अधिगम की निधि बनाने से ही धर्म को देखा जा सकता है। ऐसे पुरुष को अमृत प्राप्ति होती है। वह अमृतपद को देखता है, उसका साक्षात्कार करता है। धम्म को देखना, धम्म को जीना श्रेष्ठ है, बनिस्पत धर्म को न देखते हुए सौ वर्ष जीने के।

8. सहस्त्र वर्गो

2. गाथाएं

वर्ग 8, गाथा 1

सार्थक एक पद श्रेष्ठ है

(तम्बदाठिक चोरघातक की कथा, स्थान—वेणुवन)

100. तम्बदाठिक नामक एक व्यक्ति राजा का नौकर था, उसने पचपन वर्षों तक राजा के चोर घातक के रूप में सेवा की। जब वह सेवा से मुक्त हुआ, तो एक दिन उसने अपने घर में

चावल-भात पकाया और नदी के तट पर स्नान करने चला गया। उसने सोचा—वह वापस आकर चावल-भात खायेगा। वह स्नान करके वापस आया और ज्योंही चावल खाने लगा, सारिपुत्त उसके दरवाजे पर भिक्खाटन निमित्त पहुंच गए। तम्बदाठिक ने सोचा उसने जिन्दगी भर चोरों को दण्ड दिया है, अब मुझे इस श्रमण को भोजन देना चाहिये। ऐसा सोचकर उसने थेर सारिपुत्त को अन्दर बुलाया और ससम्मान उनको भोजन कराया।

भोजनोपरान्त पुण्यानुमोदन हुआ। सारिपुत्त ने तम्बदाठिक को धम्मोपदेश देना शुरू किया। लेकिन उसे अपने पिछले कर्म याद आने लगे और वह ध्यान नहीं दे सका, अवधान नहीं कर सका। जब सारिपुत्त को यह ज्ञात हुआ तो वे बोले, "आयुष्मान ! तुम्हें राजा के द्वारा आदेश दिया जाता था, तुम्हारी इच्छा उन्हें दण्ड देने की नहीं थी, इस प्रकार क्या तुम दोषी हो या नहीं ?" तम्बदाठिक बोला, "उसने कोई पाप नहीं किया, वह दोषी नहीं है, उसके लिए वह उत्तरदायी नहीं है।" ऐसा कहते हुए वे जानते हुए उसने पूरे ध्यान से, पूरे मनोवेग से धम्म-श्रवण किया और स्रोतापन्न मार्ग के समीप पहुंच गया। पुण्यानुमोदन के बाद सारिपुत्त वापस विहार रवाना हुए। तम्बदाठिक भी उन्हें आदर के साथ छोड़ने हेतु थोड़ी दूर तक साथ चला, पीछे-पीछे उनका अनुगमन किया।

सारिपुत्त को सादर विदा करके वह वापस आ रहा था, रास्ते में एक गाय के द्वारा उसकी मृत्यु हो गयी। भिक्खुओं को इसकी जानकारी होने पर उन्होंने भगवान बुद्ध से पूछा कि तम्बदाठिक की क्या गति हुई ? इस पर भगवान ने बताया कि वह जीवन भर अशुभ कर्म में रत रहा है, परन्तु उसने सारिपुत्त के मुख से धम्म को जाना है और अनुलोम ज्ञान तक पहुंचा है, अतः उसका तुलित लोक में पुनर्भव होगा।

भिक्खु इस पर अचरज करने लगे कि जो जिन्दगी भर अशुभ कर्म सम्पादित करता रहा, उसकी ऐसी गति कैसे हो सकती है। भगवान ने समझाया कि धर्म का पेय ऐसा पेय है, जो व्यक्ति में क्रमशः सुख की वृद्धि करता है और अन्ततः परम सुख देता है। हजारों निरर्थक शब्दों से एक सार्थक शब्द कहीं ज्यादा अच्छा होता है। तम्बदाठिक ने भले ही धम्म के कुछ शब्द ही सुने हैं, परन्तु वे सारभूत शब्द थे, उससे उसमें ज्ञान की रश्मि फूट पड़ी है।

तथागत बोले, "मनुष्य के मन और मस्तिष्क में कई बार एक शब्द ही ऐसी छाप छोड़ जाता है कि उसकी जिन्दगी ही बदल जाती है। उसे कितने ही उपदेश देते हैं, पुस्तकें पढ़ते हैं, व्याख्या सुनते हैं, परन्तु उसकी अन्तर्दृष्टि के पटल नहीं खुलते हैं, परन्तु कई बार एक सार्थक शब्द सुनते ही उसके सारे बन्धन टूट जाते हैं, उसे अन्तर्दृष्टि मिल जाती है, वह कृतकृत्य हो जाता है, धन्य हो जाता है। इसलिये निरर्थक पदों से युक्त हजारों वचनों से भी सार्थक वह एक पद ही श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर शान्ति प्राप्त हो जाती है अर्थात् निरर्थक पद-समूहों वाले हजारों वाक्यों की अपेक्षा सार्थक एक पद भी श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर परम् सुख, परम् शान्ति प्राप्त होती है। ऐसा कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

100. सहस्समपि चे वाचा, अनत्थपदसंहिता।

एकं अत्थपदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति।। 8.1।।

अर्थ : व्यर्थ के पदों से युक्त हजार वचन से भी, सार्थक एक पद श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर (मन) उपशान्त हो जाता है।

शब्दार्थ : सहस्समपि = यह सीमा बोधक शब्द है जैसे एक हजार दो हजार आदि। अनत्थपदसंहिता = निरर्थक पद समूह वाले। अत्थपदं = अर्थवान् पद। सुत्वा = सुन कर।

वग्ग 8, गाथा 2

एक गाथापद श्रेष्ठ है

(दारुचीरिय थेर की कथा, स्थान—वेणुवन)

101. किसी समय कुछ सेठ लोग नाव में बैठ कर जा रहे थे। समुद्र के बीच में नाव डोलने लगी और पानी में डूब गयी। उसमें सवार सभी लोग पानी में डूब गए, काल-कवलित हो गए, परन्तु उनमें से एक सेठ बच गया। वह काष्ठफलक पकड़कर अपने को बचाते-बचाते, किनारे पर जा पहुंचा। वह नंगा था, इसलिये पेड़-पत्तों से अपने शरीर को ढक लिया और एक कटोरा लेकर ऐसी जगह पर बैठ गया, जहां आने-जाने वाले लोग उसे देख सकें। उधर से गुजरने वाले लोग उसे चावल-भात, यवागु आदि देने लगे। लोगों में चर्चा फैली, बड़ा तपस्वी है, साधु है, अर्हत्त है। लोगों ने उसे पहनने को कपड़े भी दिये, परन्तु उसने स्वीकार नहीं किये। बेचारा भ्रम से ग्रसित हो गया कि वह अर्हत्त है। चूंकि वह अच्छे विचार से नहीं बैठा था और काष्ठफलक, पेड़-पत्तों से अपना शरीर ढका रखता था, वही पहनता था। अतः उसका नाम बहियदारुचरिय पड़ गया।

महाब्रह्मा वहां से गुजर रहे थे, उन्होंने उसे देखा, वह उनके पूर्वजन्म का मित्र था। उसने सोचा यह दारुचरिय गलत रास्ते पर है, यह अर्हत्त है नहीं और ऐसा मान बैठा है। अतः उसे सही रास्ते पर लाने के लिए वह उसके पास जाकर बोले, “दारुचरिय अभी तुम अर्हत्त नहीं हो, इससे भी बढ़कर तुम्हारे अन्दर अर्हत्त बनने के गुण भी नहीं हैं। सावत्थि में अर्हत्त सम्यक्सम्बुद्ध रहते हैं, तुम उनके पास जाओ, वे विश्व आलोक हैं, देदीप्यमान हैं।”

दारुचरिय को अपनी गलती का अहसास हुआ, वह सावत्थि की ओर चल पड़ा, वहां पहुंचा। उसने देखा—भगवान बुद्ध भिक्खाटन हेतु निकले हैं। वह भी उनके पीछे-पीछे चलने लगा और बार-बार भगवान से विनती करने लगा कि भगवान उसे धर्म की शिक्षा दें, उपदेश दें, प्रव्रजित करें। भगवान ने उसे बार-बार मना किया और समझाया कि अभी भिक्खाटन का समय है, अतः इस समय प्रव्रज्या नहीं दे सकते, धम्मोपदेश नहीं दे सकते। दारुचरिय फिर भी विनती करता रहा। भगवान महाकारुणिक हैं, उन्होंने मार्ग में ही दारुचरिय को धर्म की बातें बतायीं। तथागत बोले, “जब तुम किसी वस्तु को देखते हो, तो उसी वस्तु पर अपने आपको सम्यक करो, अपनी चेतना लगाओ। दृष्टा भाव से देखो, उसमें अपनी आसक्ति का रंग मत चढ़ने दो। देखने में मात्र देखना होना चाहिये। ऐसे ही सुनने में मात्र सुनना होना चाहिये, गन्ध में मात्र गन्ध, स्पर्श में मात्र स्पर्श, विचार में मात्र विचार। यह सब दृष्टा भाव से सम्पन्न करो।” इस तरह से भगवान से धर्म का

अमृतपान करते ही दारुचरिय अर्हत्त्व को प्राप्त हो गया। उसे संघ में प्रवेश की अनुमति मिल गयी। उसी बीच, भिक्षुपात्र और भिक्षुओं के निमित्त विभिन्न अन्य वस्तुएं दे दी गयीं। उनको प्राप्त करने के बाद वह जा रहा था कि रास्ते में एक गाय ने टक्कर मार कर उसका प्राणान्त कर दिया।

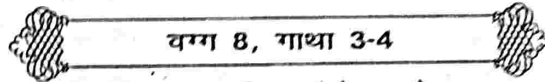
भगवान ने भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा कि दारुचरिय ने निर्वाण को प्राप्त किया, और उसने मार्ग का तीव्र गति से सम्भान किया है, अभिज्ञा प्राप्त की है, अन्तर्दृष्टि प्राप्त की है। वह उत्तम है। भिक्षुओं की समझ में नहीं आया। वे बोले, "दारुचरिय को कब और कहाँ यह सब प्राप्त हुआ? भगवान बोले, "मैं उसी धर्म की बात बता रहा था, तब उसने अर्हत्त्व को प्राप्त किया था, जब हम लोग भिक्षुघाटन के लिए पथ पर थे। उसके लिए धर्म शब्दों के वे न्यून दाने भी मोती समान थे। कोई भी प्रवचन कितना लम्बा है या उसमें कितने पद हैं, यह मायने नहीं रखता है। जिस प्रवचन से, जिस वाक्य से, जिस शब्द से उसमें मेधा जाग्रत हो जाय, तो वह वाक्य, वह शब्द ही श्रेष्ठ है। अगर वह प्रवचन, वह वाक्य, वह शब्द किसी के लिए कल्याणकारी है, तो उसके लिए उस प्रवचन के लम्बे या छोटे का फर्क नहीं पड़ता है। निरर्थक पद समूह वाली हजारों गाथाओं की अपेक्षा एक गाथापद श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर शान्ति प्राप्त होती है।" फिर तथ्यागत ने यह गाथा कही—

101. सहस्समपि चे गाथा, अनत्थपदसंहिता।

एकं गाथापदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति॥ 8.2॥

अर्थ : अनर्थ पदों से युक्त हजार गाथाओं से भी ऐसा एक गाथा पद श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर (मन) उपशान्त हो जाता है।

शब्दार्थ : अनत्थपदसंहिता = व्यर्थ एवं निरर्थक पदों का संग्रह। गाथा=गाथाओं से। चे = भी। सहस्सं = सहस्रों (=हजारों)। यं = जिसे। सुत्वा = सुनकर। उपसम्मति = उपशान्त हो जाता है। एक = एक। गाथापदं = गाथापद। सेय्यो = श्रेष्ठ है।



वर्ग 8, गाथा 3-4

एक धर्म-पद श्रेष्ठ है

(कुण्डलकेसी थेरी की कथा, स्थान—जेतवन)

102-103. राजगृह नगरी में एक धनी सेठ रहता था। उसके एक सुन्दर कन्या थी, सुकोमल थी, युवती थी, लावण्यमय रूप की रानी थी, भद्रा उसका नाम था। अपने अद्वितीय रूप के कारण उसके मां-बाप ने उसे घर की सबसे ऊपरी मंजिल में रख छोड़ा था, वही उसका निवास था, वहीं उसका खान-पान होता था। उसकी सेवा में परिचारिकाएं थीं, नौकरानियां थीं, सब कुछ सुविधाएं थीं, धन था, दौलत थी। एक दिन वह घर की ऊपरी मंजिल पर बैठी थी, उसे अजीब नजारा दिखा। राजा के कुछ लोग एक युवक को पकड़कर ले जा रहे थे—युवक सुन्दर था, बलिष्ठ था, हृष्ट-पुष्ट था। श्रेष्ठि की युवती का मन पुलकित हो उठा, मचल उठा, उसमें अनुराग जाग उठा। उसने उससे विवाह की बात ठान ली।

भद्रा का पिता राजकोषाध्यक्ष था, उसे मालूम हुआ, उसने पुत्री को समझाया, उसकी माँ ने समझाया, समझदारों ने समझाया, सबने समझाया, पर भद्रा का उत्तर था— या तो वह उस अपराधी युवक से शादी करेगी या अपने प्राण त्याग देगी। किसी तरह से बात बनी नहीं। युवक ने चोरी की थी, वह चोर था—चौर्य उसका कर्म था। उसे मृत्यु दण्ड मिला था। भद्रा के पिता ने अधिक और प्रहरियों से मिलकर उस युवक को बचा लिया और दूसरे युवक का वध उसकी जगह करवा दिया गया।

युवक छूट गया, सत्थुक नाम था उसका। उसे सुगन्धित जल से नहलाया गया, संवारा गया, विवाह मण्डप सजाया गया, विवाह सम्पन्न हुआ। भद्रा और सत्थुक विवाह बन्धन में बन्ध गए। सत्थुक चोर था, उसके मन का चोर जाग रहा था, उसने भद्रा के कीमती आभूषण देखे, दैमव देखा। वह भद्रा को नार कर ये बहुमूल्य आभूषण हथियाना चाहता था। उसने भद्रा से कहा, “प्रिये ! मैं जिस समय वध-स्थल पर्वत-शिखर पर ले जाया जा रहा था, तो मैंने देवता से मनीषी की थी कि यदि मेरी प्राण रक्षा हो जायेगी तो पूजा करने यहां आऊंगा। देवता, प्रसन्न हो गए, मेरे प्राण बच गए। चलो, पूजा करने चलते हैं।” भद्रा प्रेम-बावली थी, बोल पड़ी, “चलो प्रिये !” उसने सभी बहुमूल्य आभूषण पहने, सुअलंकृत हुई, पति के साथ रथ में बैठकर अनुचरों सहित पर्वत की ओर चल दी। भद्रा प्रसन्न थी, मुदित थी, खुश थी। सत्थुक भी अपने मन के भाव को छुपाता हुआ उसका साथ दे रहा था। पर्वत मूल में रथ रुकवाया गया। सभी अनुचरों को वहीं रुकने का आदेश हुआ। भद्रा ने कहा, “ऐसा क्यों?” सत्थुक का उत्तर था, “सबका काम नहीं है, देवदा अप्रसन्न हो जायेगा, हम पति-पत्नी ही चलेंगे।” भद्रा कभी पैदल चली नहीं थी। चलते-चलते उसको हिचकी आने लगी, चारिकाओं ने भद्रा की ओर देखा..... सत्थुक पूजा सामग्री लिए आगे बढ़ गया था। उसने चारिकाओं को कहा, “तुम यहीं रुको”.....और वह सत्थुक के पीछे चल दी।

सत्थुक गम्भीर था, भद्रा को नारने का ताना बाना बुन रहा था, उसे अन्जाम देने को जा रहा था। वे शिखर पर पहुंचे, वहां पहुंचे जहां चोरों को प्राणदण्ड दिया जाता है, जहां से चोरों को नीचे धकेल दिया जाता है, उनके प्राण-पंखेरु उड़ जाते हैं, वे मर जाते हैं। भद्रा को शंका हुई, सन्देह हुआ। सत्थुक बोला, “भद्रा ! तुम अपने सब आभूषण उतार दो।” भद्रा का प्रश्न था, “क्यों ?” सत्थुक तेज स्वर में बोला, “मैं कहता हूं उतार कर गठरी बांध दो, केवल एक साड़ी पहने रखो।” भद्रा कम्पित हुई, वह बोली, “प्रिये ! मैंने क्या अपराध किया है ?” सत्थुक बोल पड़ा, “मूर्खा ! तुम क्या समझती हो, मैं यहां पूजा करने के लिए आया हूं, मैं तो तुम्हारे अलंकारों को लेने आया हूं, तुम उन्हें फुर्ती से उतार दो।” भद्रा बोली, “प्रिये ! ये अलंकार और मैं सब कुछ तो तुम्हारे ही हैं।” “यह मैं नहीं जानता। तुम जल्दी करो।” सत्थुक का जवाब था।

भद्रा प्रत्युत्पन्नमति वाली थी। उसे एक उपाय सूझा, वह मुस्करायी, उसने प्रेम का प्रदर्शन किया और बोली, “प्रिय ! एक कार्य करोगे, मुझे एक बार आलिंगन कर लेने दो।” “फिर फिर सब आपका।” सत्थुक क्रूर हंसी के साथ बोला, “अच्छा ठीक है।” भद्रा आगे बढ़ी, अलंकारों का लोभी सत्थुक भद्रा के पास आया, भद्रा ने उसे जोर का धक्का दे दिया। वह पर्वत शिखर से नीचे गिर गया, चकनाचूर हो गया, मर गया।

उसे मृत देख भद्रा दुखी हुई, उसने मृत काया को देखा, शिखर से राजगृह को देखा, उसमें वैराग्य पैदा हुआ, अब वह वापस जाना नहीं चाहती थी। वह संन्यासिन बन गयी। घूमते-घूमते वह निगण्ठों के आश्रम में गयी। संसार तो वह त्यागना ही चाहती थी। केश लुंचन कराये और साध्वी बन गयी। निगण्ठों के आश्रम में रहते हुए ही उसके केश पुनः आने लगे, बाल घुंघराले थे। अतः सभी उसे कुण्डल केसा कहने लगे। आश्रम में उसने शास्त्र पढ़े, तर्क पढ़ा, न्याय पढ़ा, समस्त ग्रन्थों को पढ़ा, उसकी बुद्धि कुशाग्र थी, वाद-विवाद में पटु थी। शास्त्र एक सीमा तक जाते थे, वह तो उससे भी आगे जाना चाहती थी, अतः घूम-घूम कर शास्त्रार्थ करने लगी।

वह जनपद में भ्रमण करती थी, जामुन की टहनी हाथ में रखती थी और किसी नगर या गांव के बाहर चुनौती के रूप में उसे गाड़ देती थी, जो उसे उखाड़ देता, वह उससे शास्त्रार्थ करती थी। जम्बू की डाली हाथ में लिए घूमने के कारण उसका नाम जम्बू पड़ गया। जम्बू ने शास्त्रार्थ में चारों ओर धूम मचा रखी थी। कहीं पर भी वह सात दिन तक उस शाखा को एक स्थान पर गाड़े रखती और जब कोई शास्त्रार्थ करने वाला नहीं मिलता, तो उस शाखा को लेकर दूसरे स्थान को चल देती थी।

एक समय की बात है, वह भ्रमण करती हुई सावत्थि पहुंची। नगर के बाहर शाखा को गाड़ दिया, वहां आदमी और बालक खड़े थे, उनको बता दिया। उसके प्रश्नों का जो उत्तर देने की प्रतिज्ञा करेगा, वही इस शाखा को उखाड़ सकता है। भिक्षाटन का समय हुआ, उसने शाखा को सहेजा और भिक्षाटन हेतु निकल पड़ी। सारिपुत्त उधर से विचरण कर रहे थे, उन्होंने उस शाखा को देखा, उसके आस-पास बालक थे। वे बोले, "यह शाखा कैसी गड़ी है?" उत्तर मिला, "जम्बू ने गाड़ा है, सहेजा है, इसे कोई न उखाड़े। उसके प्रश्नों का जो उत्तर दे सकें, वही उखाड़ने का साहस कर सकता है।" सारिपुत्त ने कहा, "अगर मैं उखाड़ दूं तो?" बच्चे बोल उठे, "आप को जम्बू के प्रश्नों का उत्तर देना होगा।" सारिपुत्त बोले, "अच्छा, बच्चो! तुम उखाड़ दो, फेंक दो, मैं उसके प्रश्नों का उत्तर दूंगा।" बच्चे उत्साहित थे, उत्सुक थे। उन्होंने शाखा को उखाड़ दिया। बोले, "जम्बू से क्या कहेंगे?" सारिपुत्त ने बताया कि कह देना सारिपुत्त ने उखड़वाया है, मैं जेतवन में विहार करता हूं।" ऐसा कहकर सारिपुत्त चल दिये, बच्चे वहीं बैठे थे। जम्बू आयी। उसने देखा, शाखा वहां नहीं है, उसने बच्चों से जाना कि सारिपुत्त नामक किसी भिक्षु ने इसे उखड़वाया है, जेतवन में रहता है। वह अविलम्ब उधर चल पड़ी, उसने शास्त्रार्थ करने का निर्णय किया।

वह रास्ते में जाती हुई सावत्थि नगर की गली मौहल्ले में घोषणा कर रही थी, "क्या आप लोग शाक्यों और मेरे शास्त्रार्थ को सुनना चाहते हो, देखना चाहते हो.....आओ! चलो!" लोगो की भीड़ लग गयी, कौतूहल बढ़ गया। आगे-आगे जम्बू किंवा कुण्डलकेसी चल रही थी, पीछे-पीछे भीड़ चल रही थी। सभी जेतवन विहार पहुंचे। सारिपुत्त एक पेड़ की छाया में बैठे थे, कुण्डलकेसी वहां पहुंची, कुशल-क्षेम हुआ, शिष्टाचार हुआ। वह बोली, आपने मेरी शाखा उखाड़ी है?" सारिपुत्त मुस्कराये और बोले, "हां, बहिन, उखाड़ी है।" उसका प्रश्न था, "मेरे प्रश्नों का उत्तर दोगे?" सारिपुत्त संयत थे, बोले, "अवश्य!" जम्बू ने किंवा कुण्डलकेसी ने अनेक प्रश्न किए, सारिपुत्त ने सबका यथोचित उत्तर दिया। अब सारिपुत्त की बारी थी, उन्होंने उससे पूछा, "बहिन! बताओ वह 'एक' क्या है?" जम्बू उत्तर देने में असमर्थ रही, विचार किया, बोल उठी, "आप ही बताइये।"

“आप ही उत्तर दीजिये।” सारिपुत्त बोले, “बहिन ! पहले प्रव्रज्या लेनी पड़ेगी।” जम्बू ने प्रश्न किया, “क्यों ?” सारिपुत्त ने कहा, “बिना प्रव्रज्या के इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता।” उसने कहा, “प्रव्रज्या कैसे मिलेगी ?” सारिपुत्त ने कहा, “मैं प्रबन्ध करता हूँ।” जम्बू को भिक्षुणियों के पास भेजा गया, वह प्रव्रजित हो गयी, भिक्षुणी बन गयी, भगवान के संघ में सम्मिलित हो गयी।

प्रव्रज्या के बाद उसे कुण्डल केसा के नाम से लोग पुकारने लगे, वह कुशाग्रबुद्धि थी, उद्यमी थी, पिपासु थी, जिज्ञासु थी। ध्यान-भावना की, विपश्यना की और कुछ ही दिनों में वह अर्हत्त बन गयी। इसके कुछ समय बाद कुण्डल केसा की चर्चा एक धर्म सभा में चल पड़ी। भिक्षु बोले, “भगवान ! क्या यह सम्भव है कि थोड़ी सी धर्म गाथाओं को सुनकर कुण्डलकेसा अर्हत्त बन गयी।” भगवान संयत थे, धीर थे, गम्भीर थे, वे बोले, “जो मनुष्य निरर्थक पदों से युक्त सहस्र गाथाओं को भी कहे, उससे धर्म का एक पद भी श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर शान्ति प्राप्त हो जाती है। जो मनुष्य युद्ध में हजारों मनुष्यों को हजार बार जीत लेवे, तो भी उससे बढ़कर युद्ध में जीतने वाला वह है, जिसने अपने आप को जीत लिया है, निरर्थक पद समूह वाली सैकड़ों गाथाओं से धर्म का एक पद श्रेष्ठ है, जिसको सुनकर शान्ति प्राप्त होती है। अपने को जीतने वाला व्यक्ति उस व्यक्ति से श्रेष्ठ है, जो युद्ध क्षेत्र में हजारों बार हजारों-हजारों मनुष्यों को जीतता है। अपने को जीतने वाला जितेन्द्रिय ही महावीर है, महान है, श्रेष्ठ है। ऐसा व्यक्ति समग्र मानवता की खुशी और सुख का आश्रय होता है, आसरा होता है।” उन्होंने उस समय ये गाथाएं कहीं—

102. यो च गाथासतं भासे, अनर्थपदसंहिता।

एकं धम्मपदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति॥ 8.3॥

अर्थ : जो अनर्थपदों से युक्त चाहे कोई सौ गाथायें भी कहे, उससे धर्म का एक पद भी श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर (सुख) शान्ति प्राप्त होती है।

103. यो सहस्सं सहस्सेन, संगामे मानुसे जिने।

एकं च जेय्यमत्तानं, स वे संगामजुत्तमो ॥ 8.4॥

अर्थ : जो संग्राम में हजारों मनुष्यों को जीत ले, उससे उत्तम संग्राम विजयी वही है, जो एक अपने स्वयं को जीत ले।

शब्दार्थ : जिने = जीत ले। जेय्यमत्तानं = जीतने योग्य अपने को। संगामजुत्तमो = संग्राम जीतने वालों में उत्तम।



वग्ग 8, गाथा 5.6



अपने को जीतना श्रेष्ठ है

(अनर्थ पूछने वाले ब्राह्मण की कथा, स्थान—जेतवन)

104-105. एक बार अनन्थपुच्छक ने सोचा कि सम्यक्सम्बुद्ध प्राप्ति को ही जानते हैं, हित को ही जानते हैं, लाभ को ही जानते हैं, भले को ही जानते हैं या अहित को भी जानते हैं, बुरे को भी जानते हैं, अकल्याणकारी को भी जानते हैं, अनर्थ को भी जानते हैं। मैं सम्यक्सम्बुद्ध से अपनी

शंका का निवारण करूंगा। अस्तु, वह तथागत के पास गया, उनका स्तवन किया, वन्दना की और बैठ गया। उसने अपनी शंका के बारे में जानना चाहा। तथागत ने बताया, “वे लाभ और हानि दोनों को जानते हैं, मंगल और अमंगल दोनों को जानते हैं, भले और बुरे दोनों को जानते हैं, अर्थ और अनर्थ दोनों को जानते हैं। सूर्योदय के बाद सोना हितकारी नहीं है, फालतू बैठा रहना हितकारी नहीं है, लम्बे समय की धन-दौलत हितकारी नहीं है, यात्रा पर जाना हितकारी नहीं है और दूसरी औरतों की अभिलाषा करना हितकारी नहीं है। अगर तुम इनके पीछे भागोगे, ऐसा करोगे तो हे ब्राह्मण ! ये तुम्हारे किसी काम की नहीं होगी।” ब्राह्मण ने भगवान की तारीफ की, प्रशंसा की।

भगवान ने उससे प्रश्न किया, “हे ब्राह्मण ! तुम अपनी जीविका कैसे चलाते हो ?”

ब्राह्मण का उत्तर था, “जुए से !”

भगवान ने पूछा, “कौन जीतता है, तुम या दूसरा ?”

उत्तर था, “कभी मैं जीतता हूँ, कभी दूसरा।”

तब भगवान ने कहा, “हे, ब्राह्मण ! दूसरे को जीतना तो कोई जीत नहीं है, वह तो निरर्थक है, इसमें कोई बहुत बड़ा लाभ नहीं है। लेकिन जो अपने क्लेशों को जीत लेता है, आसवों पर विजय पा लेता है, ऐसा जीतना ही वास्तव में जीतना है। ऐसी जीत में कभी भी वह हार का मुंह नहीं देखता है, नहीं देखना पड़ता है। जिसका अपने पर नियन्त्रण है। जो संयत है, उसको न तो कोई देवता, न कोई गन्धर्व, न कोई मार, न ब्रह्मा ही उसे हरा सकता है। यह ऐसी ही जीत है। इन दूसरों को जीतने की अपेक्षा अपने आपको जीतना श्रेष्ठ है। अपने स्वत्व का दमन करने वाले तथा संयत आचरण करने वाले पुरुष की विजय को, न देवता, न गन्धर्व और न ब्रह्मा सहित मार पराजय में बदल सकते हैं। अपने ‘स्व’ पर, ‘ईगो’ पर, ‘आत्म’ पर, ‘मैं’ और ‘मैं-पन’ पर विजय श्रेष्ठ विजय है।” ऐसा कहते हुए भगवान ने ये गाथाएं कहीं—

104. अत्ता हवे जितं सेय्यो, या चायं इतरा पजा।

अत्तदन्तस्स पोसस्स, निच्चं सज्जतचारिनो॥ 8.5॥

105. नेव देवो न गन्धब्बो, न मारो सह ब्रह्मुना।

जितं अपजितं कयिरा, तथारूपस्स जन्तुनो॥ 8.6॥

अर्थ : इन अन्य प्रजाओं को जीतने की अपेक्षा अपने को जीतना श्रेष्ठ है। अपने को दमन करने वाला और नित्य अपना संयम करने वाला जो पुरुष है। उसकी जीत को देवता, गन्धर्व, ब्रह्मा सहित मार भी बे-जीता नहीं कर सकते हैं।

शब्दार्थ : अत्तदन्तस्स = आत्मदमन करने वाले का। पोसस्स = पुरुष की। तथारूपस्स = उस प्रकार के।



वग्ग 8, गाथा 7



परिशुद्ध मन वाले की पूजा श्रेष्ठ है

(सारिपुत्त स्थविर के मामा की कथा, स्थान—वेणुवन)

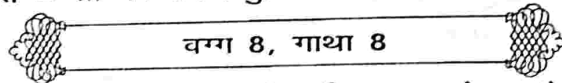
106. एक बार सारिपुत्त अपने मामा के घर जाते हैं। उनके मामा और उनके बीच में अच्छे

और भले के बारे में बात होती है। सारिपुत्त के यह कहने पर कि क्या आपने कभी एक भी भला काम किया है ? वह ब्राह्मण बताता है कि बराबर महीनों भर निगण्ट साधुओं को हमेशा दक्षिणा देता हूँ। सारिपुत्त उसको भगवान बुद्ध के पास ले जाते हैं। भगवान उसे कहते हैं, “हे ब्राह्मण ! अगर तुम सैकड़ों वर्षों तक भी इस तरह से दक्षिणा देते रहोगे, तो भी तुम्हें वह फल नहीं मिलेगा, परन्तु जो अपने स्वरूप को जानता है, आत्मज्ञानी है, उसको थोड़ी सी दक्षिणा दोगे तो वह फलवती होगी। ये यज्ञ-याज्ञ, कर्म-काण्ड करना, उसमें पैसा बर्बाद करना है। एक ओर मनुष्य प्रतिमास हजारों की दक्षिणा देकर सौ वर्षों तक यज्ञ करे और दूसरी ओर यदि वह परिशुद्ध मन वाले एक ही व्यक्ति का क्षण भर पूजन करे, तो सौ वर्षों तक किए गए यज्ञ से वह पूजन श्रेष्ठ है।” ऐसा कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

106. मासे मासे सहस्सेन, यो यजेथ सतं समं।
एकञ्च भावित्तानं, मुहुत्तमपि पूजये।
सा येव पूजना सेय्यो, यं चे वस्ससतं हुतं॥ 8.7॥

अर्थ : जो महीने-महीने सौ वर्ष तक हजार (=रुपयों) से यज्ञ करे और यदि परिशुद्ध मन वाले एक (पुरुष को) मुहूर्त (क्षण) भर भी पूजे, तो सौ वर्ष के पूजन से वह पूजा ही श्रेष्ठ है।

शब्दार्थ : समं=वर्ष। वस्ससतं = सौ वर्ष तक। हुतं = यज्ञ।



वग्ग 8, गाथा 8

परिशुद्ध मन वाले की पूजा श्रेष्ठ है

(सारिपुत्त थेर के भानजे की कथा, स्थान—वेणुवन)

107. सारिपुत्त एक बार अपने भानजे से पूछते हैं कि हे ब्राह्मण ! क्या तुमने कभी कोई अच्छा काम किया है ? सारिपुत्त भागिनेय्य (भानजा) उन्हें हवन-यज्ञ आदि के विभिन्न क्रिया-कलापों के बारे में बताता है। सारिपुत्त उसे भगवान बुद्ध के पास ले जाते हैं। भगवान बुद्ध यज्ञ की अग्नि को महीनों प्रज्ज्वलित रखने तथा ऐसे कर्मकाण्डों के बारे में उपदेश देते हुए बताते हैं कि यह कोई श्रेष्ठ कर्म नहीं है। इससे श्रेष्ठ कार्य तो यह है कि परिशुद्ध मन वाले व्यक्ति का क्षण भर ही पूजन कर लें। तथागत बोले, “एक ओर जो व्यक्ति वन में सौ वर्ष तक अग्नि की परिचर्या करे और दूसरी ओर वह जो परिशुद्ध मन वाले एक ही व्यक्ति का क्षण भर पूजन करे तो वह पूजा सौ वर्ष तक किए गए हवन की अपेक्षा श्रेष्ठ है।” ऐसा कह भगवान ने एक गाथा कही—

107. यो च वस्ससतं जन्तु, अग्निं परिचरे वने।
एकं च भावित्तानं, मुहुत्तमपि पूजये।
सा येव पूजना सेय्यो, यं चे वस्ससतं हुतं॥ 8.8॥

अर्थ : जो प्राणी सौ वर्षों तक वन में अग्निहोत्र करे और यदि परिशुद्ध मन वाले एक (=पुरुष) को मुहूर्त भर भी पूजे, तो सौ वर्ष के हवन से वह पूजा ही श्रेष्ठ है।

शब्दार्थ : यो जन्तु = जो प्राणी। वने = वन में। च = यदि। वस्ससतं = सौ वर्ष तक। अग्निं परिचरे = अग्नि की परिचर्या करे यानी अग्निहोत्र करे। भावित्तानं = मन, वाणी तथा तन से परिशुद्ध वाले। मुहुत्तं अपि = मुहुत्त भर भी। पूजये = पूजे। यं हुतं = इस हवन से। सा पूजना एवं = वह पूजा ही, सेय्यो = श्रेष्ठ है।

वर्ग 8, गाथा 9

यज्ञ और हवन से अभिवादन करना श्रेष्ठ है

(सारिपुत्त थेर के मित्र की कथा, स्थान— वेणुवन)

108. एक बार सारिपुत्त अपने एक मित्र से भी यही प्रश्न करता है, उसका मित्र बताता है कि वह पुण्य की अभिलाषा करता हुआ यज्ञ और हवन करता है। सारिपुत्त उसको समझाता है। दोनों भगवान के पास जाते हैं। भगवान धर्म-प्रविचय करके कहते हैं, “पुण्य की अभिलाषा करता हुआ मनुष्य संसार में वर्ष भर जो कुछ यज्ञ और हवन करता है, तो भी वह सरल वृत्ति वाले पुरुष के लिए किए गए श्रेष्ठ अभिवादन के चतुर्थांश के बराबर भी नहीं है।” भगवान ने यह गाथा कही—

108. यं किञ्चि यिद्धं च हुतं च लोके, संवच्छरं यजेथ पुञ्जपेक्खो।

सब्बम्पि तं न चतुभागमेति, अभिवादना उज्जुगतेसु सेय्यो॥ 8.9॥

अर्थ : यदि पुण्य को चाहने वाला वर्ष भर लोक में यज्ञ और हवन करे, तो भी वह सब सरल चित्त (व्यक्तियों) को किए गए अभिवादन के चौथाई फल के बराबर भी नहीं होता, प्रत्युत अभिवादन ही श्रेष्ठ है।

शब्दार्थ : पुञ्जपेक्खो = पुण्य की अपेक्षा करने वाला। उज्जुगतेसु = सद्वृत्ति वालों में (बुद्धघोस—उज्जुगतेसुति हेट्ठिमकोटिया सोतापन्नेसु उपरिमकोटिया खीणासवेसु)।

वर्ग 8, गाथा 10

चार बातें बढ़ती हैं

(दीर्घायु कुमार की कथा, स्थान—अरंजकुटिका)

109. एक समय दो तपस्वी थे, संन्यस्त थे। वे साथ-साथ तपस्या करते थे। उन्होंने पैंतालीस वर्ष तक घोर तपस्या की। उनमें से एक संन्यासी ने तपस्या छोड़कर घर बसा लिया, विवाह कर लिया, उसके एक पुत्र पैदा हुआ। दोनों पति-पत्नी उस पुत्र को लेकर अपने संन्यासी मित्र से मिलने गए। संन्यस्त साधु ने पति-पत्नी दोनों के लिए दीर्घायु रहो की कामना की, परन्तु बच्चे के लिए वह कुछ नहीं बोला। गृहस्थ के मन में शंका हुई, सन्देह हुआ। उसके पूछने पर संन्यस्त साधु ने बताया कि यह बालक सात दिन बाद मर जायेगा और उसके पास इसे बचाने का कोई उपाय नहीं है, उसे कुछ भी नहीं सूझता है।

दोनों पति-पत्नी अपने पुत्र को लेकर भगवान बुद्ध के पास गए, उनकी वन्दना की, स्तवन किया, प्रदक्षिणा की। भगवान ने कुशल क्षेम पूछा। उसने सारी बात बता दी। भगवान बुद्ध ने

भिक्षुओं से उस बच्चे के लिए रक्षा वाक्य, परित्त (परित्राण) कहने को कहा। बालक को घर के बाहर बैठाया गया और भिक्षु उसके चारों ओर बैठ गए व परित्राण पाठ करने लगे। कथा है कि उस बालक का जीवन हरण करने के लिए एक प्रेत घात लगाये बैठा था, परन्तु वह मीका नहीं पा रहा था, उसे अवसर नहीं मिल रहा था। सभी सदपुरुषों की वहां उपस्थिति थी। सातवें दिन भगवान वहां पधारे। भगवान के लिए उन्होंने मार्ग दिया। यह सब देखकर प्रेत को वहां से भागना पड़ा। दूसरे दिन बालक को भगवान के पास ले जाया गया और भगवान के प्रति सम्मान-आदर अभिव्यक्त किया गया। भगवान ने उसे दीर्घायु होने का आशीर्वचन कहा। उपस्थित जन ने जिज्ञासा की कि बालक कितना जियेगा। भगवान के मुख के निकला, 'एक सौ बीस बरस।' इतनी लम्बी उम्र के कारण उसका नाम दीर्घायु कुमार पड़ गया।

जब वह बालक बड़ा हो गया तो एक बार जेतवन विहार में, जहां भगवान विरहते थे, वहां आया। भिक्षुओं ने उसे पहचान लिया और उस समय भगवान से जिज्ञासा की कि क्या कोई ऐसा उपाय है, साधन है, जिससे लम्बी उम्र पायी जा सके। भगवान ने उस समय कहा, "भिक्षुओ ! बड़े-बुजुर्गों की, विद्वान् और गुणी लोगों की सेवा करना, उनका आदर सम्मान करना, न केवल आयु को बढ़ाता है, अपितु, सुन्दरता, सुख और बल को भी बढ़ाता है। जो अभिवादनशील है और हमेशा वृद्धजनों की सेवा में तत्पर रहने वाला है, ऐसे मनुष्य के चार धर्म—आयु, वर्ण, सुख और बल बढ़ते हैं।" ऐसा कह भगवान ने एक गाथा कही—

109. अभिवादनसीलिस्स, निच्चं वद्धाचायिनो ।

चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति, आयु वण्णो सुखं बलं ॥ 8.10 ॥

अर्थ : जो अभिवादनशील है, जो सदा वृद्धों की सेवा करने वाला है, उसकी चार बातें बढ़ती हैं— आयु, वर्ण, सुख और बल।

शब्दार्थ : अभिवादनसीलिस्स=जो अभिवादन शील है (=वे जिनमें सम्मान एवं आदर करने की आदत है)। निच्चं=नित्य (=नियमित रूप से) वद्धापचायिनो=जो मस्तिष्क में विकसित एवं परिपक्व है। आयु=उम्र। वण्णो=वर्ण (=रंग)। सुखं=सुख। बल=शक्ति। चत्तारो धम्मा=चार बातें। वड्ढन्ति = बढ़ती है।

वग्ग 8, गाथा 11

शीलवान का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है

(संकिच्च सामनेर की कथा, स्थान—जेतवन)

110. एक बार तीस भिक्षु भगवान बुद्ध से ध्यान-विपश्यना की शिक्षा लेकर सावत्थि से एक सौ बीस योजन दूर एक बड़े गांव के विहार में रहने लगे। उस गांव के पास एक घना जंगल था। उसमें पांच सौ लुटेरे ठहरे हुए थे। वे देवता को प्रसन्न करने के लिए मानव बलि देना चाहते थे। अतः गांव में प्रविष्ट हुए और विहार में गए, विहार में जाकर भिक्षुओं को बोला कि उनमें से एक भिक्षु वन देवता को चढ़ाने के लिए वे लोग उन्हें सौंप दें। सभी भिक्षु डर के मारे सहमे हुए थे, कम्पित थे। उनमें से कई भिक्षुओं ने अपने आप को लुटेरों को सुर्पुद करने की पेशकश की।

ऐसी पेशकश करने वालों में संकिच (संकिच्च) सामनेर भी था। वह अभी सात वर्ष का ही हुआ था, परन्तु उसने अर्हत्त्व को प्राप्त कर लिया था। संकिच ने अन्य भिक्षुओं को बताया कि उसके गुरु थेर सारिपुत्त ने आगत की आशंका को भांप कर ही उसको उनके साथ भेजा है, इसलिए उसे ही जाने दिया जाय। ऐसा कहते हुए वह लुटेरों के साथ चल दिया।

सामनेर के जाने का खेद सभी भिक्षुओं को सताता रहा, वे चिन्तित थे, व्याकुल थे। लुटेरों ने बलि की तैयारी करनी शुरू की। जब सारी तैयारी पूरी हो गयी, लुटेरों का मुखिया सामनेर के पास आया, उस समय संकिच एकाग्रचित्त ध्यान-विषयनारत था। लुटेरों के मुखिया ने अपनी तलवार उठायी और उस पर वार किया, उसकी तलवार मुड़ गयी परन्तु सामनेर का कुछ भी नहीं बिगड़ा। उस मुखिया ने अपनी तलवार की धार तेज की और दुबारा पूरी शक्ति से वार किया। इस बार भी वह पूरी तरह से मुड़ गयी और सामनेर का कुछ भी नहीं बिगड़ सकी। ऐसा होता देखकर लुटेरों का वह मुखिया सामनेर के कदमों में गिर पड़ा और माफी मांगने लगा। सभी पांच सौ लुटेरे अचम्बित थे, कम्पित थे, भयभीत थे और वे गिड़गिड़ाने लगे, अनुनय-विनय करने लगे।

सभी लुटेरे संकिच्च के चरणों में गिर गए और उन्होंने प्रव्रज्या की अनुमति मांगी। सामनेर ने उनके निवेदन की पालना की। सामनेर इन पांच सौ नये भिक्षुओं के साथ गांव के विहार में लौट आया, वे तीस भिक्षु जो गांव के विहार में थे, उनको देखकर प्रसन्न हुए। वहां से सामनेर संकिच्च और पांच सौ भिक्षु थेर सारिपुत्त को श्रद्धावतन होने हेतु जेतवन विहार पहुंचे। सारिपुत्त को आदर-सम्मान प्रकट करने के बाद वे भगवान तथागत के पास पहुंचे। भगवान को जब यह जानकारी हुई कि ये भिक्षु कैसे प्रव्रजित हुए हैं, तो उन्होंने धर्म प्रविकस्य करते हुए कहा, “भिक्षुओ ! जो लूटता है, चोरी करता है या अन्य ऐसे ही बुरे कर्म करता है, उसका सौ वर्ष जीना बेकार है, ऐसे सौ वर्ष जीने से तो सदाचार युक्त जीया गया एक दिन भी बढ़िया है, उत्तम है। जो दुराचारी और असंयमी व्यक्ति है, वह सौ वर्ष तक भले ही जीवित रहे, परन्तु उसका जीना व्यर्थ है, उसकी अपेक्षा शीलवान् और ध्यानी व्यक्ति का एक दिन का जीवन भी श्रेष्ठ है। अस्तु, दुराचारी और असंयत रहकर सौ वर्ष तक जीवित रहना निरर्थक है, पर सदाचारी और संयत रहकर एक दिन का जीवित रहना श्रेष्ठ है।” ऐसा कहकर उपस्थित जनों को लक्ष्य करके भगवान बुद्ध ने यह गाथा कही—

110. यो च वस्ससतं जीवे, दुस्सीलो असमाहितो।

एकाहं जीवितं सेय्यो, शीलवन्तस्स ज्ञायिनो 8.11।।

अर्थ : दुराचारी और चित्त की एकाग्रता से रहित व्यक्ति के सौ वर्ष के जीवन से शीलवान् और ध्यानी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है।

शब्दार्थ : दुस्सीलो=दुःशील। असमाहितो=एकाग्रता रहित। यो च=और जो। वस्ससतं=सौ वर्ष। जीवे=जीवन। शीलवन्तस्स=शीलवान का। ज्ञायिनो=ध्यानी का। एकाहं=केवल एक दिन का। जीवितं=जीवन। सेय्यो=महान है (=श्रेष्ठ है)।

ध्यानी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है

(खाणु कोण्डञ्ज थेर की कथा, स्थान—जेतवन)

111. एक समय जब थेर खाणु कोण्डञ्ज ने भगवान बुद्ध से ध्यान-विपश्यना की शिक्षा लेकर जंगल में तपस्या कर अर्हत्त्व को प्राप्त कर लिया था, तब वह वन से निकले और जन प्रदेश की ओर बढ़े। रास्ते में चलते-चलते वे थक गए, तो उन्होंने सोचा कि रास्ते से हटकर कुछ ध्यान-विपश्यना की जाय। अस्तु, एक बड़े पत्थर पर जाकर समाधिरुथ हो गए। उसी समय पांच सौ चोरों का गिरोह एक गांव में चोरी-डाका डाल कर, बड़ी-बड़ी गठरियां बना कर उसे अपने सिर पर रखकर गांव से निकला था। वे काफी थक चुके थे। अतः उन्होंने विश्राम की सोची। वे आपस में कहने लगे, "हम काफी चल चुके हैं, अतः विश्राम करना चाहिए।" "उन्हें वहां एक चट्टान दिखी, जिस पर थेर खाणु कोण्डञ्ज विपश्यनारत थे। अस्तु, वे रास्ते से हटकर उस चट्टान पर विश्राम करने चल दिये। उन्होंने उस थेर खाणु कोण्डञ्ज को एक पेड़ समझ कर उसके ऊपर, आस-पास वे सभी गठरियां रख दीं। इस प्रकार सभी खाणु कोण्डञ्ज के ऊपर व आस-पास गठरियां रखकर सो गए, उनको गहरी नींद आ गयी।

जब वे उठे और सभी ने अपनी-अपनी गठरियां वहां से उठायी तो खाणु कोण्डञ्ज को देखकर डर गए, चकित हुए। उन्होंने सोचा कोई प्रेतात्मा है यह। ऐसा सोच वे भागने लगे। खाणु कोण्डञ्ज ध्यान से उठे, उन्होंने चोरों को इधर-उधर भागते हुए देखा तो बोले, "अरे, उपासको ! घबसाने की कोई बात नहीं है, मैं तो भिक्षु हूं।" चोरों का सन्देह जाता रहा। वे खाणु कोण्डञ्ज के चरणों में गिर गए और माफी मांगने लगे। गिरोह का जो सरदार था, उसके अन्दर का वैराग्य जाग उठा। वह बोला, "प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूं, भन्ते, आपका शिष्य बनना चाहता हूं।" ऐसा कह वह गिड़-गिड़ाने लगा। उसको ऐसा कहते सुन दूसरे चोर भी बोल उठे, "पूज्य, भन्ते ! हम भी भिक्षु बनना चाहते हैं।" खाणु कोण्डञ्ज ने सभी को प्रव्रज्या दी। अब वे सभी भिक्षु बन गए थे।

इन सभी के साथ खाणु कोण्डञ्ज भगवान के पास जाता है। वह भगवान का स्तवन करता है, वन्दना करता है, अभिवादन करता है। भगवान कुशल-क्षेम पूछते हैं। इस पर खाणु कोण्डञ्ज पूरा वृत्तांत भगवान को बताता है। भगवान धम्मोपदेश देते हुए बताते हैं, "भिक्षुओ। जिस प्रज्ञा को आपने प्राप्त किया है, उसके साथ आपका एक दिन जीना भी बेहतर है, अपेक्षाकृत मूर्खता भरे कर्मों के सौ वर्ष जीने के। दुर्बुद्धि और असंयत रहकर सौ वर्ष तक जीवित रहना निरर्थक है, पर बुद्धिमान और ध्यानी रहकर एक दिन का जीवित रहना भी श्रेष्ठ है। जो दुर्बुद्धि और असंयती है। इससे तो एक प्रज्ञावान और ध्यानी व्यक्ति का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है। दुष्प्रज्ञ और एकाग्रतारहित के सौ वर्ष के जीने से प्रज्ञावान और ध्यानी का एक दिन का जीना श्रेष्ठ है।" भगवान जेतवन में थे, उन्होंने उस समय यह गाथा कही—

१११. यो च वरससत्तं जीवे, दुप्पज्जो असमाहितो।

एकाहं जीवितं सेय्यो, पज्जावन्तस्स ज्ञायिनो।। ८.१२।।

अर्थ : दुष्पज्ञ और चित्त की एकाग्रता रहित व्यक्ति के सौ वर्ष के जीवन से प्रज्ञावान और ध्यानी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है।

शब्दार्थ : दुप्पज्जो=दुष्पज्ञ (=प्रज्ञाविहीन)। असमाहितो=एकाग्रता रहित। यो च=जो कोई भी। वरससत्तं जीवे=सौ वर्ष के जीवन से। पज्जावन्तस्स=प्रज्ञावान (=प्रज्ञा का धनी) ज्ञायिनो=ध्यानी का। एकाहं=केवल एक दिन का। जीवितं=जीवन। सेय्यो=श्रेष्ठ है।



वग्ग ८, गाथा १३



उद्योगी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है।

(सप्पदासक थेर की कथा, रथान—जेतवन)

११२. सप्पदासक नामक थेर भगवान के धम्म-प्रवचनों को सुनकर भिक्षु बन गया था, परंतु रह-रह कर उसके मन में गृहस्थ-जीवन का प्रलोभन आ ही जाता था। फिर वह उस पर चिंतन करता व भिक्षु जीवन में दृढ़ होने की कोशिश करता। इस प्रकार की विचार वीथि में उलझे सप्पदासक ने अंततोगत्वा भिक्षु जीवन से उदास होकर मरना श्रेयस्कर समझा, वह पुनः गृहस्थ तो नहीं बनना चाहता था।

उसने एक बार प्रयत्न किया कि उसको सांप डस जाए, अस्तु, वह सांप से घिरा, सांप के मुंह में हाथ डाला, सर्पदंश से मरना चाहा, परंतु जीवन का अंत नहीं हुआ। दूसरी बार वह अत्तहत्या (आत्महत्या) करने के लिए नाई का छुरा लेकर जेतवनाराम के बाहर जाकर एक पेड़ के नीचे खड़ा हो गया और अपनी मनो वीथि में गोते खाने लगा। उस समय वह अपनी उपसंपदा से लेकर अद्यतन स्थिति पर चिंतन-मनन करने लगा।

उसे अपनी उपसंपदा से लेकर अद्यतन, उसे अपना शील परिशुद्ध जान पड़ा, उसमें 'धम्म-प्रीति' जाग पड़ी, उसका चित्त विपश्यना की ओर लौट पड़ा। वह वहीं खड़े-खड़े ही विपश्यनारत हो गया, उसे उसी समय अर्हत्त्व की प्राप्ति हो गई। अन्य भिक्षुओं को जब इसकी जानकारी हुई, तो एक दिन तथागत से पूछ बैठे, "भंते ! सप्पदासक थेर ने छुरा लेकर अत्तहत्या करने के लिए खड़ा होने मात्र से अर्हत्त्व प्राप्त कर लिया।"

भगवान शांत थे, गंभीर थे, धीर थे, वे बोले, "भिक्षुओ ! सप्पदासक ने उद्योग किया। उद्योगी भिक्षु पैर उठाकर रखने मात्र में ही अर्हत्त्व पा लेता है। आलसी और वीर्यहीन रहकर सौ वर्ष तक जीवित रहना निरर्थक है, पर वीर्ययुक्त और दृढ़तापूर्वक रहकर एक दिन का जीवन भी श्रेष्ठ है। पराक्रम या प्रयत्न में दृढ़ व्यक्ति सदा ही कल्याण प्राप्त करता है। जो आलसी और वीर्यहीन है, भले ही वह सौ वर्ष जीए, उसका जीना व्यर्थ है। उसकी अपेक्षा दृढ़तापूर्वक उद्योग प्रारंभ कर देने वाले व्यक्ति का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है।" ऐसा कहते हुए तथागत ने यह गाथा कही—

112. यों च वस्ससतं जीवे, कुसीतो हीनवीरियो।
एकाहं जीवितं सेय्यो, वीरियमारभतो दळ्हं॥ 8.13॥

अर्थ : आलसी और अनुद्योगी के सौ वर्ष के जीवन से दृढ़ उद्योगी (पुरुष) का एक दिन का जीवन ही श्रेष्ठ है।

शब्दार्थ : कुसीतो = आलसी।

वग्ग 8, गाथा 14

उत्पत्ति और विनाश का मनन श्रेष्ठ है

(पटाचारा थेरी की कथा, स्थान—जेतवन)

113. कोसल जनपद के सावत्थि नगर ने भगवान बुद्ध के संघ को कई ऐसे दैदीप्यपान प्रकाश पुंज न्यौछावर किए हैं, जिनके प्रकाश की रश्मियां आज तक भी सारे जगत् को एक अन्तर्दृष्टि प्रदान कर रही हैं। ऐसी ही एक रश्मि है— पटाचारा। पटाचारा सावत्थि के एक धनी सेठ की रूपवती लाड़ली पुत्री थी। वह बड़े लाड़-प्यार और सुख-सुविधाओं में पली थी, बड़ी हुई। उसकी उम्र विवाह के योग्य हुई, मां-बाप ने विवाह का निश्चय किया, परन्तु उस युवती का स्नेह किसी और पर ही आसक्त था, वह अपने घर के नौकर को अपना दिल दे बैठी थी। उसने घर से कुछ सामान अपने साथ लिया और उस सेवक के साथ भावी जिन्दगी को बसाने के लिए नगर के मुख्य द्वार से पलायन कर गयी। सावत्थि से बहुत दूर चले गए थे दोनों, और गृहस्थी बना ली थी, बसा ली थी।

समय बीतता गया। वह गर्भवती हुई। पति के घर में वे सब सुख-सुविधाएं थी नहीं, उसे अपना मायका याद आने लगा। उसने अपने पति से निवेदन किया। पति ने एक-दो दिन और इन्तजार करने को कहा। वह हनेशा कहती रही, दिन निकलते रहे। आज और कल के फेर में प्रसव का समय नजदीक आ गया। एक दिन वह पति की बिना अनुमति लिए मायके रवाना हो गयी, पति घर पर था नहीं, पड़ोसियों को बता कर गयी, उसका पति आ जावे तो उसे बता देना, वह अपने मायके जा रही है। पति घर आया, पत्नी को नहीं देखा, आस-पास पता किया। उसे मालूम हुआ तो वह पत्नी को वापस लाने के लिए पीछे-पीछे दौड़ पड़ा, उसे दुख हुआ, अफसोस हुआ कि आज उसके कारण वैभव-सम्पन्न उसकी पत्नी की यह दुर्दशा हो रही है। वह उसी रास्ते उसको ढूंढ़ने निकल पड़ा।

उसे पटाचारा मार्ग में ही मिल गयी, उससे नहीं जाने का मन्तव्य बताया, पत्नी मानी नहीं, चलती रही, दोनों चलते रहे। कुछ दूर चले तो पत्नी को प्रसव वेदना हुई, सन्तान उत्पन्न हुई, दोनों खुश हुए। जिस प्रयोजन से पिता के घर जाना था, वह पूरा हुआ, उनका जाना टल गया, वे वापस अपने घर आ गए, सुख से रहने लगे।

समय बीतता गया, कुछ समय पश्चात वह फिर गर्भवती हुई, फिर वही बात हुई, पति टाल-मटोल करता रहा, पत्नी घर से पितृगृह चल दी। पति को मालूम हुआ, वह फिर पीछे-पीछे गया। एक जंगल में दोनों का साथ हुआ। वे साथ चले जा रहे थे, भयंकर तूफान आया आंधी आयी,

बिजली चमकने लगी। बादल गड़गड़ाने लगे, वर्षा होने लगी। उसको प्रसव की भयंकर पीड़ा अनुभव हुई, उसने पति से कुछ करने को कहा, वे आसरा ढूँढ़ने लगे, आश्रय मिला नहीं। झाड़-झंखाड़ को काट-कर कुछ आश्रय बनाने की ठान पति झाड़ियों को काटने निकला। वह कुछ दूर पहाड़ी पर गया, झाड़ी को काटने लगा, उसमें एक भयंकर सांप था, जहरीला था, विषधर था, उसने उसे काट खाया। पति वहीं मर गया। पत्नी की प्रसव वेदना बढ़ी, प्रसव हुआ, उसे सन्तान हुई। वह अपने दोनों शिशुओं को लिए आंधी के थपेड़े खाती रही, पति को खोजने निकली। खोजते-खोजते वह पहाड़ी पर पहुंची, उस झाड़ी के पास पहुंची, उसके शोक की सीमा नहीं रही, पति मृत पड़ा हुआ था। वह रोयी, चिल्लायी, विलाप करने लगी, उसकी मार्मिक वेदना को सुनने वाला वहां पर कोई नहीं था, उसका रुदन अरण्य-रुदन बन कर रह गया। उसका मन कोस रहा था, कचोट रहा था, उसके कारण उसके प्रिय पति की मौत हुई है। वह रात भर इस मन-स्थिति में विलाप करती रही, कराहती रही। उसके पास अब कोई दूसरा चारा था ही नहीं, वह किंकर्तव्य-विमूढ़ थी।

पक्षियों का कलरव हुआ, सुबह हुई, वह अपने पुत्रों को साथ ले मायके जाने लगी। उसके कपड़े भीगे थे, शरीर शिथिल था, बच्चे रो रहे थे, विशाद की पराकाष्ठा थी—फिर भी बच्चों की रक्षा की भावना उसको शक्ति और स्फूर्ति दे रही थी। वह चली जा रही थी— सावत्थि की ओर।

मार्ग में नदी आयी, रात्रि को हुई वर्षा का उफान उसमें था, वह दोनों बच्चों को साथ में लेकर उसको पार करने में असमर्थ थी। उसने कुछ पत्ते तोड़े, उनको बिछाया और एक बच्चे को वहीं नदी के तट पर बैठा दिया और नदी के उथले जल में, जहां पानी कम था, वहां प्रविष्ट हुई, नदी पार करने लगी, वह नदी के अन्दर ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती, पानी की गहरायी बढ़ती जाती। फिर भी वह नदी पार करना चाहती थी, पार कर रही थी, उसकी एक नजर अपने हाथ में संभाले बच्चे की ओर थी, दूसरी दृष्टि नदी के तीर (तट) पर बैठे बच्चे की ओर। वह दोनों की ओर देखती हुई नदी पार कर रही थी। नदी के बीच में पहुंची होगी, एक बाज आया, उसने अचानक झपटा मारा, उसकी नजरों के सामने नवजात को छीन लिया, वह चिल्लायी, शोर किया, हाथ ऊपर उठा-उठा कर शोर करने लगी। तीर पर बैठे बड़े लड़के ने सोचा, उसकी मां उसे बुला रही है, वह उठा, नदी में प्रविष्ट हो गया, नदी की धारा में उतर गया। जल गहरा था, पानी का वेग तेज था, वह डूबने लगा, चिल्लाने लगा। मां की नजर उधर पड़ी, वह चिल्लायी, उधर दौड़ने लगी, परन्तु सब कुछ निष्फल गया, बच्चा नदी के प्रवाह में बह गया, नदी के गर्भ में समा गया। वह चीत्कार कर-करके रोने लगी, विलाप करने लगी, उसकी सुनने वाला वहां कोई नहीं था, सहायता करने वाला कोई नहीं था। वह निस्सहाय थी, निर्बल थी, टूट चुकी थी, फिर भी उसे नदी तो पार करनी ही थी।

उसने जैसे-तैसे नदी पार की, जल से निकली सावत्थि का मार्ग पकड़ा। अब मां-बाप के अलावा उसका और कोई सहारा नहीं रह गया था। रास्ते में एक पथिक मिला। उसने सावत्थि

का हाल-चाल पूछा, अपने मां-बाप के बारे में पूछा, भाई बहिनों के बारे में पूछा, पथिक ने कहा, "मैं उधर से ही आ रहा हूँ, रात को सावत्थि में भग्यंकर तूफान आया, धूँआँ आया, कोई मशान गिर गए, कई लोग मर गए। श्रेष्ठि का मकान भी गिर गया। सेंट अपनी पत्नी और पुत्र के साथ मकान के मलबे में दब गया, बड़ी दर्दनाक मौत हुई उनकी।" वह कांप उठा, उसकी आँखें काँप आयीं, वह इस हृदय-विदारक शोकाघात को सहन नहीं कर सकी। आगे जानने का उसने साहस नहीं रह गया था। पथिक बोला, "मैं जब वहाँ से चला था, तब उनकी आँखों से आँसू जा रही थी, ये बहुत सा धुआँ उसी मशान से उठता हुआ दिख रहा है।" उसने संकेत किया, वह विक्षिप्त हो गयी।

वह रोती हुई श्मशान गयी, अपनी माँ की, बाप की जलती हुई चिताएँ देखी, अपनी मृत्यु को खो बैठी, वह पागल सी हो गयी, पागलों की तरह हरकतें करने लग गयी। उसके शरीर में क्या कब गिरे, उसे इसका भान तक नहीं रहा। वह सावत्थि की हर गली और कूँबे में चिन्मय फिरती—मेरे दोनों शिशु मर गए—पति झाड़ी में मर गया—एक ही चिता पर माँ-बाप और मैं जल गए। नगर के बालक उस पर पत्थर फेंकते, कीचड़ फेंकते, उसको इसका कोई ज्ञान नहीं रह गया था। निर्वस्त्र वह पागल गली-गली में विलाप करती फिरती रहती थी।

धूमती-धूमती वह एक दिन सावत्थि के जेतवन विहार में प्रविष्ट होने लगी, लोगों ने इस निर्वस्त्र पागल औरत को रोकना चाहा, हटाना चाहा, पर भगवान की कृपादृष्टि उधर पड़ गई। भगवान ने संकेत किया, उसके लिए प्रवेश का द्वार खुल गया। उसने तथागत की सौम्यता देखी, भिक्षुओं की सुआच्छादित छट्टा देखी, वातावरण की विचित्रता देखी, उसकी चेतना की पर्तें खुलने लगीं। उसने अपने शरीर की ओर देखा और अपनी नग्नता का भान करने लगी। वह लज्जित हुई, लज्जा का बोध हुआ, वह उकड़ूँ होकर बैठ गयी। एक भिक्षु ने उस पर कपड़ा डाल दिया, उसने अपने शरीर को उस कपड़े से ढक लिया। भगवान के चरणों में अपना सिर रख दिया, पंचांग प्रमाण किया।

भगवान धीर थे, गम्भीर थे, वे बोले, "पुत्रादि परलोक गमन के सहायक नहीं होते हैं, वे रक्षा नहीं करते हैं। उनका होना और न होना उस स्थिति में बराबर है। शील का विशेषण कर निर्वाण पथ की ओर अग्रसर होना ही बुद्धिमानों के लिए श्रेयस्कर है।" विक्षिप्त औरत के मन तिरोहित होने लगे, ज्ञान चक्षु खुलने लगे। वह सुने जा रही थी, भगवान ने पुनः कहा, "बहिन! पुत्र रक्षा नहीं करता है, पिता रक्षा नहीं करता है, बन्धु-बान्धव रक्षा नहीं करते हैं, सगे-सम्बन्धी रक्षा नहीं कर सकते हैं, मृत्यु जिस समय आती है, ये रक्षक किसी की भी रक्षा नहीं कर पाते हैं। बुद्धिमान लोग इसे जानने का प्रयास करते हैं, वे प्रज्ञावान होते हैं, शीलवान होते हैं, निर्दम के मार्ग का गमन करते हैं।"

वह स्रोतापन्न हुई, उसने अपनी व्यथा सुनायी। भगवान ने फिर कहा, "तुम्हारी सहायता के लिए कोई दूसरा आने वाला नहीं है, तुम्हें अपनी मदद खुद ही करनी पड़ेगी। जिस प्रकार अज

तुम अपनी सन्तान, पति, मां, बाप और भाई के लिए आंसू बहा रही हो, इससे कहीं अधिक तुमने अपने अनगिनत पूर्व जन्मों में आंसू बहा दिये हैं। समस्त समुद्रों के जल से भी अधिक अब तक मनुष्य आंसू बहा चुका है—अपनी सन्तानों और बन्धुओं की विदाई पर। नाटक शोक करने वाला दुख को आमन्त्रित करता है और शरीर कष्ट में पड़ता है, अतएव अपने जीवन को शोकवशीभूत कर क्यों नष्ट कर रही हो।” उसकी चेतना लौट आयी, उसने प्रवर्जित होने की इच्छा जाहिर की, भगवान ने उसे भिक्षुणी संघ के पास भेज दिया, उसने प्रव्रज्या ली और वह पटाचारा के नाम से प्रसिद्ध हुई।

किसी समय पटाचारा अपना पैर धो रही थी, धोते समय वह मनन कर रही थी। पंच स्कन्धों की उत्पत्ति किस प्रकार होती है और उनका विनाश किस प्रकार होता है। उसने पद पर पानी डाला, पानी गिरा, पानी बहा, वह जमीन पर कुछ दूर जाकर सूख गया। उसने दूसरी बार पानी फेंका, दूसरी बार भी पानी कुछ और अधिक दूर जाकर सूख गया। उसने तीसरी बार पानी गिराया, वह कुछ और दूर जाकर सूख गया, मिट्टी में समा गया। पटाचारा ने सोचा, इसी प्रकार प्राणी प्रथम, मध्यम और अन्तिम अवस्था में आते हैं, शरीर अनित्य है, भंगुर है, वह अनित्यता और अनन्ता में डूब गयी। भगवान अपनी कुटी में आसनस्थ थे। उन्होंने देखा, पटाचारा की चित्तवृत्ति को समझा, वे बोले, “पटाचारे ! पंच स्कन्धों के उत्पत्ति और विनाश का मनन करने वाले का एक दिन का जीवन भी शत वर्ष तक जीने वाले अमननशील व्यक्ति से उत्तम है। सांसारिक वस्तुओं की, पंचस्कन्धों की उत्पत्ति और विनाश को न देखते हुए सौ वर्ष तक जीना निरर्थक है, उसकी अपेक्षा इस उत्पत्ति और विनाश को देखते हुए, देखने वाले व्यक्ति का एक दिन का जीवन भी श्रेष्ठ है।” ऐसा कह भगवान ने यह गाथा कही—

113. यो च वरस्ससतं जीवे, अपस्सं उदयव्वयं।

एकाहं जीवितं सेय्यो, परस्सतो उदयव्वयं ॥ 8.14॥

अर्थ : पंचस्कन्धों की उत्पत्ति और विनाश का मनन न करने वाले के सौ वर्ष के जीवन से, उत्पत्ति और विनाश का मनन करने वाले का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है।

शब्दार्थ : अपस्सं = न देखता हुआ। उदयव्वयं = संस्कार आदि पंचस्कन्धों की उत्पत्ति और विनाश को (बुद्धघोस की टीका—पंचन्नं खन्धानं पंचवीसतिया लक्खणेहि उदयं च व्ययं च)।



वर्ग 8, गाथा 15



निर्वाणदर्शी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है

(किसा गोतमी की कथा, स्थान—जेतवन)

114. सावत्थि नगर में एक युवती थी, उसका नाम गोतमी था। वह शरीर से बहुत कृश थी, कमजोर थी, उसकी कृशता के कारण लोग उसे किसान गोतमी (कृशा गोतमी) कहकर पुकारते थे। वह रूप की सलोनी थी, सुन्दर थी। उसका विवाह एक सम्पन्न खानदान में हो गया। वह गर्भवती

हुई, घर में कुलदीपक आने वाला था। सभी खुश थे, प्रसन्न थे, गोतमी के मन में भी अपार खुशी थी। समय पूरा हुआ। उसके प्रसव हुआ, उसे पुत्र की प्राप्ति हुई, घर वालों में उसका मान बढ़ा, सम्मान बढ़ा, आदर बढ़ा, वह सबकी प्रिय हो गयी।

उसका पुत्र सुन्दर था, सब सुख सुविधाओं में उसका लालन-पालन होने लगा। वह बढ़ने लगा, बड़ा होने लगा। गोतमी उसे बहुत चाहती थी, वह उसका सर्वस्व था, भविष्य था, प्राण था। अकस्मात् बालक को सांप डंस गया। काल के शीतल स्पर्श से बच्चा बच नहीं सका, उसने अन्तिम सांस ली। गोतमी का स्वप्न टूट गया, भविष्य अन्धकारमय जान पड़ा, वह फूट-फूट कर रोने लगी, चीत्कार करने लगी, वह विक्षिप्त सी हो गयी। उसने मरे हुए पुत्र को गोद में उठा लिया, चूमने लगी, दुलार करने लगी। वह यह सोचकर और विक्षिप्त हो गयी कि उसके बच्चे को लोग मसान ले जायेंगे, अग्नि को समर्पित करेंगे, सब कुछ राख हो जायेगा। उसका मन मान ही नहीं रहा था कि उसका बच्चा मर गया है।

उसे आशा थी, उसका बच्चा जिन्दा हो जायेगा। कोई न कोई तपस्वी, साधु-सन्त उसे जीवन दान दे देगा, संजीवनी दे देगा। वह बच्चे को गोद में उठाये इधर-उधर घूमने लगी, सबसे संजीवनी मांगती, बच्चे के जीवन को पुनः लौटाने की भीख मांगती। लोग उसकी हालत देखते, परन्तु मृत की काया में प्राण संचारित करने का बल किसी में नहीं था, वे उसे पागल समझते। कोई उसे सच्चाई बताता कि बच्चा मर गया है, इसे मसान ले जा, तो वह और घबरा जाती, भाग खड़ी होती। शायद! ये लोग इसका बच्चा छीन लेंगे और मसान ले जायेंगे।

उसका विलाप बढ़ता जा रहा था, उसके दुख की कोई सीमा नहीं रह गयी थी। किसी ने उसको कह दिया, “हे गोतमी ? इधर आ !” वह उधर दौड़ी, झट से बोली, “आप दवा देंगे ! औषधि देंगे ! मेरे बच्चे को ! जिला देंगे !” पुरुष बोला, “किसा ! बुद्ध के पास जा !” वह तपाक से बोली, “वहां क्या करूंगी ?” व्यक्ति का उत्तर था, “वे कारुणिक हैं, महाकारुणिक हैं। तुम पर करुणा करेंगे, तुम्हारा बालक जी जायेगा।” उसने भगवान का पता पूछा और चल दी उसी ओर।

भगवान के समीप पहुंचते-पहुंचते उसका विलाप बढ़ गया, प्रलाप बढ़ गया, वह अधीर हो चुकी थी फिर भी आशा की एक किरण उसे दिख रही थी। भगवान अभय मुद्रा में थे, उसे देखकर बोले, “देवी! पुत्र मर गया है।” वह बोली “मर गया—जिला दीजिये।” भगवान संयत थे, बोले, “जिसने जन्म लिया है, वह मरेगा ही किसान !” गोतमी विलाप करने लगी, बोली— “नहीं ! नहीं ! भगवान, इसे जिला दीजिये..... आप भगवान हैं, लोग कहते हैं आप जिला देंगे।” उसने मृत बालक के शव को छाती से छिपकाते हुए कहा। भगवान ने गंभीरतापूर्वक कहा। गोतमी किसान आशा भरी नजर से देख रही थी, बोली, “कहिये ! क्या करूं।” भगवान बोले, “किसा कुछ सरसों के दाने लाओगी।” किसान गोतमी तपाक से बोली, “हां यह कोई कठिन काम नहीं है। मैं अभी लाती हूं।” वह उद्यत हुई, भगवान बोले, “लेकिन उस घर से लाना, जहां कोई मरा न हो।” “अच्छा लाऊंगी” कहते हुए वह दौड़ पड़ी नगर की ओर। वह अपने बच्चे के शव के साथ द्वार द्वार जाती थी और

सरसों के दाने मांगती थी, कहती थी एक मुट्ठी सरसों दे दो। लोग लेकर आते, उससे पूछते क्या करोगी वह बताती मेरा लाल जीवित हो जायेगा। लेकिन कैसे ? वह पूछती, आपके घर में कभी कोई मरा तो नहीं है। कोई कहता कल ही मरा है। कोई कहता महीना भर पहले मरा है, कोई साल-छः महीने बताता तो कोई कहता कौन सा ऐसा घर है, जिसमें कभी कोई मरा न हो। गोतमी उस घर से आगे निकल जाती। वह घर-घर घूमी, द्वार-द्वार गयी, उसे सावत्थि में कोई भी एक ऐसा घर नहीं मिला, जहां कोई मरा नहीं था। उसे सरसों के दाने नहीं मिल सके।

किसा गोतमी को ज्ञान हुआ, वह स्रोतापन्न हुई, उसके ज्ञान-यक्षु खुल गए, उसने समझ लिया जगत् में सब मरते हैं, सब मरेंगे। शिशु भी मर गया, यह कोई नयी बात नहीं है, अद्भुत घटना नहीं है। उसने शिशु को वन में छोड़ दिया, वैराग्य फूट पड़ा और जेतवन की ओर चल दी।

जेतवन की ओर जाती हुई गोतमी धीर थी, गम्भीर थी, शान्त थी, मननशील मुद्रा में थी। भगवान ने उसे आते हुए देखा, वे स्थिर थे, किसान गोतमी ने आकर भगवान की वन्दना की, अभिवादन किया। भगवान ने उससे पूछा, "किसा सरसों लायी।" उसका जवाब था, "नहीं, भन्ते!" भगवान बोले, "गोतमी ! कुल का धर्म, ग्राम का धर्म, जनपद का धर्म, देश का धर्म, दोनों सहित समस्त लोक का धर्म एक ही है, वह है— अनित्यता।" वह बोल उठी, "समझ गयी भगवान ! मैं समझ गयी।" और तथागत के चरणों में गिर पड़ी। वह भिक्षुणी बन गयी और अर्हत्त पद को प्राप्त किया। भगवान ने उसको उपदेश दिया, बोले, "हानि और लाभ का जो ज्ञान रखता हुआ एक सौ वर्ष तक जीवित रहता है, उससे हानि और लाभ को समझकर जीने वाले का एक दिन जीना ही उत्तम है। अमृत का स्थान निर्वाण है, उसको न देखते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहना निरर्थक है, पर अमृत के स्थान को देखते हुए एक दिन का जीवित रहना भी श्रेष्ठ है।" ऐसा कह भगवान ने यह गाथा कही—

114. यो च वस्ससत्तं जीवे, अपस्सं अमत्तं पदं।

एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो अमत्तं पदं ॥ 8.15॥

अर्थ : निर्वाण को न देखने वाले के सौ वर्ष के जीवन से निर्वाण को देखने वाले का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है।

शब्दार्थ : अमत्तं पदं=अमृत का पद (=पथ) अर्थात् निर्वाण। अपस्सं=न देखने वाले। यो च=जो कोई। जीवे=जीवन से। पस्सतो=देखने वाले। एकाहं=केवल एक दिन का। जीवितं=जीवन। सेय्यो=श्रेष्ठ है। अमत्तं पदं=निर्वाण (=परमसुख-मोक्ष का ही नाम निर्वाण है। राग, द्वेष, मोह का क्षय ही निर्वाण है।)



वग्ग 8, गाथा 16



धर्मदर्शी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है

(बहुपुत्तिका थेरी की कथा, स्थान—जेतवन)

115. सावत्थि में एक युगल रहता था, उनके सात लड़के और सात लड़कियां थीं। लड़के और लड़कियों की मां को लोग बहुपुत्तिका कहकर पुकारते थे। बहुत से पुत्र और पुत्रियां थीं उसके।

बच्चे बड़े हुए, विवाह हुए, लड़कियां अपने-अपने ससुराल चली गयीं, लड़के भी अपने-अपने काम धन्धे पर लग गए। आपस में बात-तकरार होने लगी, बहुपुत्तिका ने अपनी सम्पत्ति का बटवारा कर दिया और सभी को बराबर-बराबर का हिस्सा दे दिया, परन्तु अपने पास उसने कुछ भी नहीं रखा।

अपनी सम्पत्ति को बांटने के बाद उसके पास कुछ नहीं बचा था। अतः वह अपने बड़े बच्चे के घर गयी और वहां रहने लगी। उसके नाते पोते कहने लगे, "हमें कौन सा अधिक हिस्सा दिया है, जो यहां रहने आ गयी..... कौन से हमें दो-दो हिस्से दिये हैं।" वह दूसरे के पास गयी, तीसरे के पास गई, सबके पास गयी। सबके यहां उसे यही बात, इसी तरह की बातें सुनने को मिलीं, सब जगह ऐसी ही इज्जत मिली। वह बूढ़ी औरत इससे बहुत आहत हुई, दुखी हुई और घर-बार छोड़कर भिक्षुणी बन गयी।

वह अपने बुढ़ापे में भिक्षुणी बनी थी, जीवन की अवधि कम ही बाकी थी। अतः वह पूरे मनोयोग से बुद्ध, धम्म और संघ पर श्रद्धावान थी, ध्यान-साधना में कोई कोताही नहीं बरतना चाहती थी, अपने समय का पूरा उपयोग करना चाहती थी। वह भगवान के द्वारा उपदिष्ट धम्म पर रात-रात भर ध्यानस्थ होकर मनन करती। भगवान जेतवन विहार में थे, उसकी ध्यान-साधना को देखते थे, एक दिन भगवान उसके सामने उपस्थित हुए और उसकी ध्यान-साधना को देखते थे, एक दिन भगवान उसके सामने उपस्थित हुए और बोले, "उसका जीवन व्यर्थ है, जो उपदिष्ट धर्म का मनन नहीं करता है, चाहे वह सौ वर्ष क्यों न जी ले। इससे तो एक क्षण का जीवन जीना, एक दिन का जीना बेहतर है जो धर्म को समझता है। उत्तम धर्म को न देखते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहना निरर्थक है, पर जो उत्तम धर्म को देखते हुए एक दिन ही जीता है, वह श्रेष्ठ है, ऐसे व्यक्ति का एक दिन का जीवन ही श्रेष्ठ है।" भगवान ने यह गाथा कही—

115. यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं धम्ममुत्तमं।

एकाहं जीवितं सेय्यो, परस्सतो धम्ममुत्तमं ॥ 8.15॥

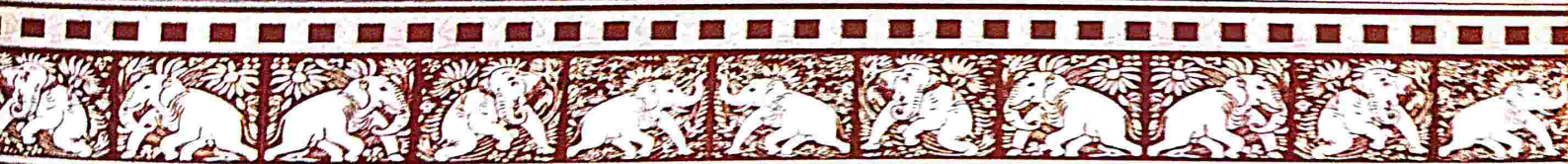
अर्थ : उत्तम धर्म को न देखने वाले के सौ वर्ष के जीवन से, उत्तम धर्म को देखने वाले का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है।

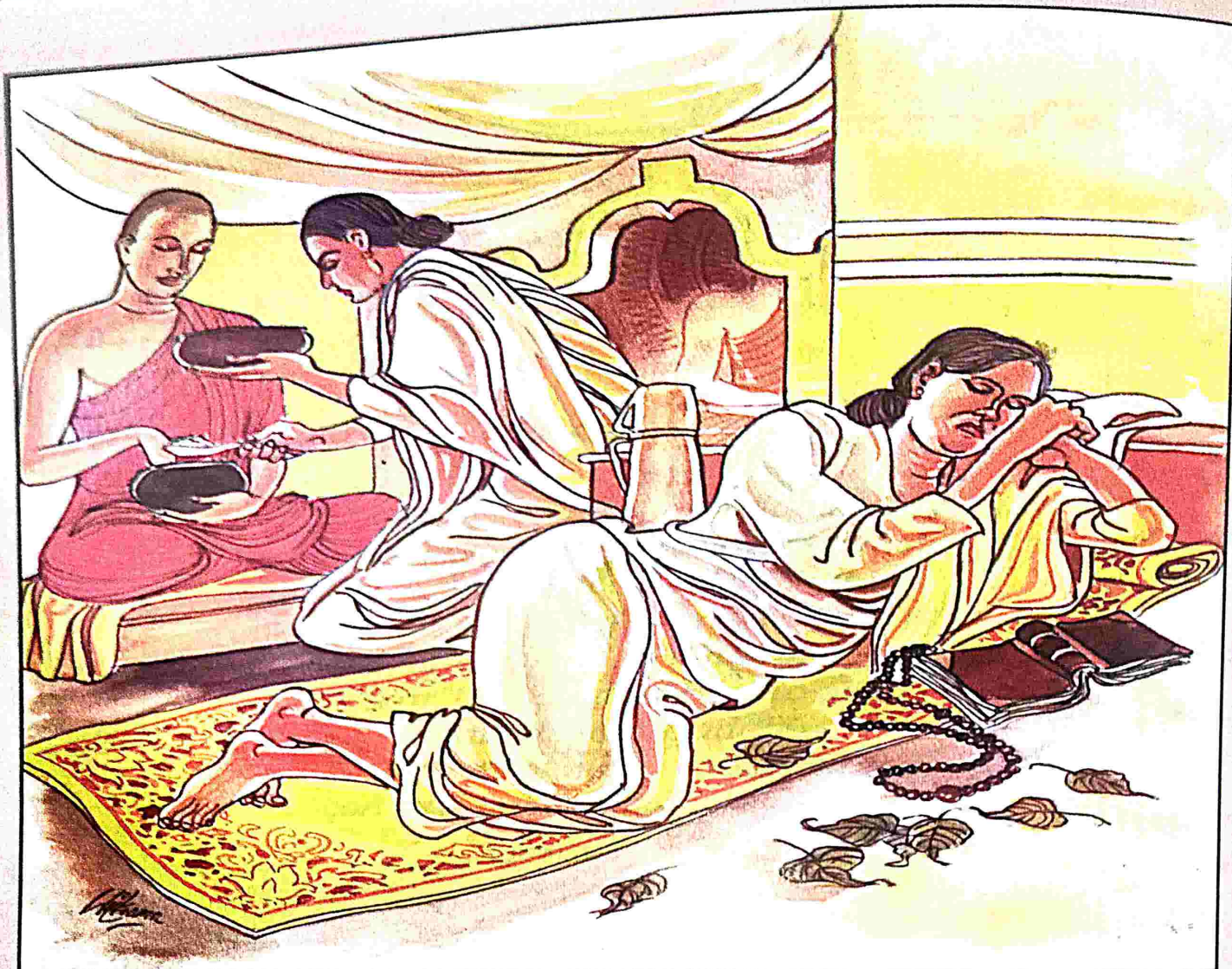
शब्दार्थ : अपस्सं=न देखने वाले के। यो च=जो कोई भी। वस्ससतं=सौ वर्ष के। जीवे=जीवन से। उत्तमं धम्मं=उत्तम धर्म (=भगवान की वाणी तथा उनका सिद्धान्त ही उत्तम धर्म माना गया है। इस धर्म में कर्मों को ही प्रधानता दी जाती है। भाग्य, ईश्वर, आत्मा, परमात्मा, जन्म से ऊंच-नीच की भावना—ये सब शेखचिल्लियों के करिश्मे हैं, पाखण्डियों के दिमाग की उपज हैं।)। परस्सतो=देखने वाले का, एकाहं=केवल एक दिन का। जीवितं=जीवन। सेय्यो=श्रेष्ठ है।



पाप दम्यो

THE EVIL





अभित्यरेथ कल्याणे, पापा चित्तं निवारये ।
दन्धं हि करोतो पुञ्जं, पापस्मिं रमती मनो ॥

अर्थ : पुण्य करने में शीघ्रता करें, पाप से चित्त को हटायें । पुण्य-कार्य को धीमी गति से करने वाले का मन पाप में रत होने लगता है ।

पाप का रास्ता अलग ही है एवं पुण्य का मार्ग बिल्कुल अलग ही है। कुशल व्यापारी की तरह इस भयजन्य पाप मार्ग को छोड़कर हमें अपने आपको निर्वाणपथ का निर्भीक राही बनाना चाहिए। पाप कर्म दो तरह के होते हैं—नियत पाप कर्म व अनियत पाप कर्म। नियत पाप कर्म वे हैं, जो निश्चयात्मक रूप से पाप कर्म हैं, दूसरी ओर अनियत पापकर्म वे हैं, जिनके बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे पाप कर्म ही हैं, ऐसे कर्म जिनका पापकर्म होना सम्भव है, अनियत पापकर्म कहे जाते हैं।

मन में अगर किसी प्रकार की बुरी भावना या दोष नहीं है, कोई प्रवृत्ति नहीं है तो वह कर्म सिर्फ क्रिया ही रह जाता है, वह कर्म नहीं कहा जा सकता है और ऐसे निश्चल हृदय से, शून्य चेतना से, निस्पृह मन से किया हुआ कर्म उस कर्त्ता को लिप्त नहीं करता है, जैसे कि स्वच्छ हाथ से जहर को उठा ले या पकड़ ले, तो भी वह जहर अपना असर नहीं दिखाता है। परन्तु अगर हाथ में घाव लगा है और हम विष का स्पर्श करें तो विष अपना प्रभाव दिखाये बगैर नहीं रह सकता है, वैसे प्रवृत्त चित्त से किया गया कर्म हमें फल देता है। दोष रहित, शुद्ध और निर्लिप्त पुरुष पर दोष लगाने को हवा के विपरीत फेंकी गई धूल के समान बताकर समझाया गया है कि जिस प्रकार वह धूल फेंकने वाले के ऊपर ही गिरती है, ऐसे ही ये दोषारोपण उस मूर्ख का पीछा करते हैं, जो निर्दोष, निर्लिप्त, शुद्ध मन वाले पर दोष लगाता है।

पूरे वर्ग की गाथाओं में यह प्रतिध्वनित होता है कि संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहां पर शरण ग्रहण कर इन कर्मों के फल से बचा जा सके। किसी भी जगह छुपकर या रहकर पापी पाप से मुक्त नहीं हो सकता है। ऐसे अनगिनत हैं, जो उत्पन्न होने से पहले ही मर जाते हैं, कुछ दुर्गति को प्राप्त होते हैं, कुछ निरय गति भोगते हैं। वहीं, जिनके सभी आस्रव क्षीण हो गए हैं वे सुगति को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

स वर्ग में कुल 13 गाथाओं का संकलन किया गया है, जिसमें से 11 गाथाएं जेतवन विहार से सम्बंधित हैं। एक गाथा वेणुवन में उद्घाटित की गयी है व एक निग्गोधाराम (कपिलवत्थु) में प्रकाशित की गयी है। ब्राह्मण से लेकर निषाद तक, गृहस्थ से लेकर भिक्षु तक तथा धनी सेठ अनाथपिण्डिक, महाधनिक सेठ से लेकर निर्धन गृहस्थ तक के श्रोता और पात्र इन गाथाओं के विविध पक्षों को उजागर करते हैं। इस वर्ग की गाथाओं में से बाबा साहेब डां आंबेडकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में 8 गाथाओं का ज्यों का त्यों उपयोग किया है। वे गाथाएं हैं—116, 117, 118, 119, 120, 121, 122 व 125 जो उनके द्वारा रचित पवित्र ग्रन्थ 'भगवान बुद्ध और उनका धम्म' में अनुसन्धेय की जा चुकी हैं।

9. पाप वर्गो

वर्ग 9, गाथा 1

पुण्य करने में शीघ्रता करे

(चूकेलसाटक ब्राह्मण की कथा, स्थान—जेतवन)

116. 'चूकेलसाटक' नाम का एक गरीब ब्राह्मण था, उसके घर की हालत ठीक नहीं थी, वह दीन-हीन और विपन्न था। तन ढकने के लिए उसके पास पर्याप्त कपड़े भी नहीं थे। उसके घर में एक ही चादर का कपड़ा था। दोनों पति-पत्नी उसको बारी-बारी से पहनते थे और कहीं काम होता था तो बारी-बारी से जाते थे। एक को घर में रहना पड़ता था। एक बार विहार में बड़ी धर्म-सभा के आयोजन का ऐलान हुआ। ब्राह्मण ने सुना, उसने आकर अपनी पत्नी को बताया और कहा, "भार्या! विहार में धर्म-सभा आयोजित होने जा रही है, तुम तथागत के प्रवचन सुनने दिन में जाओगी या रात्रि में? हमारे पास पर्याप्त कपड़े तो हैं नहीं, जो हम दोनों एक साथ जा सकें।

पत्नी ने दिन में जाने का तय किया और वह कपड़े पहन कर धम्म-श्रवण करने चली गयी। ब्राह्मण ने पूरा दिन घर में ही बिताया।

सांझ ढल चुकी थी, ब्राह्मणी वापस आयी, उसने अपने कपड़े उतार कर ब्राह्मण को दिये। ब्राह्मण ने उनको पहन कर अपने शरीर को अच्छी तरह से ढक कर विहार में प्रवेश किया, समा जुड़ी हुई थी। तथागत धम्म-प्रविचय कर रहे थे, वह भी वन्दना करके तथागत के सम्मुख बैठ गया और पूरे मनोबल से धम्म-श्रवण करने में मशगूल हो गया। धम्म-श्रवण के दरम्यान उसको पांचों प्रकार के आनन्द की अनुभूति होने लगी। उसका तन-मन ओतप्रोत हो गया, वह भाव-विभोर हो गया। उसके मन में विचार आया—तथागत के सम्मान में कुछ न्यौछावर करने का, अर्पण करने का, अपने को कृतज्ञ करने का। उसके मन में विचार आया—उसके पास देने को है ही क्या? वह तथागत को क्या दे सकता है? उसका मन कुंठित होने लगा। वह सोचता है उसके पास सिर्फ यह उतरीय है, एक चादर है, इसे दे सकता है, इसके बगैरह भी वह रह सकता है, परन्तु इस उतरीय को भी दे देगा तो उसका तो काम चल जायेगा, परन्तु मेरी भार्या का काम नहीं चलेगा वह नहीं दे सकता। वह अपनी भार्या को बिना उतरीय के कैसे रहने दे सकता है.....। ऐसे कई विचार उसके मन में पैदा होने लगे, उसका स्वार्थ फूटने लगा। उसकी श्रद्धा फूटने लगी।

ऐसे विचारों में गोता खाते, उस ब्राह्मण के मन में अन्ततोगत्वा यह विचार आया—अरे मैं ब्राह्मण हूँ, अपने बारे में सोच रहा हूँ। तथागत के धम्म की कसौटी में तो ब्राह्मण कैसे हो सकता हूँ, अगर मैं ऐसे ही स्वार्थपरक विचारों से जकड़ा रहा तो मैं आस्था और स्वार्थ के बीच फिसलता रहूँगा। कभी इधर के पलड़े में जा रहा हूँ, तो कभी उधर के। इस उहापोह में दो घड़ी बीत गयीं। वह फिर सोचने लगा कि अगर स्वार्थ का पलड़ा भारी हो गया, तो दुखों से मेरा सिर कभी बाहर निकल ही नहीं सकेगा, मैं दुख के दल-दल में ही दबा रह जाऊँगा, मुझे भेंट देनी चाहिए।

विचारों की इस वीथि में उलझे चुलेकसाटक ने आखिर निर्णय कर ही लिया। स्वार्थ हार गया, श्रद्धा जीत गयी। वह वस्त्र लेकर तथागत के पास आया, तथागत को समर्पित किया और बोल पड़ा, “मैं जीत गया ! मैं जीत गया ! मैं जीत गया !”

राजा पसेनदि (प्रसेनजित) भी धम्म-श्रवण कर रहे थे, जब उन्होंने यह आवाज सुनी, तो बोले, “उससे पूछो, वह क्या जीत गया ? किसे विजित कर लिया ?” राजा के सिपाहियों ने पता किया, तो ब्राह्मण ने अपनी पूरी मनोस्थिति का ब्यान किया। जब राजा ने उसकी आप-बीती सुनी, तो वह भी बोल पड़ा, “कठिन है ऐसा करना।” राजा ने अपने नौकरों को आदेश दिया, “उसे एक जोड़ा कपड़े दिये जायें।” नौकरों ने राजा के आदेश का तत्काल पालन किया—एक जोड़ी कपड़े लाये गए, ब्राह्मण को दिये गए। ब्राह्मण निर्लिप्त था, निःस्वार्थी था, पुण्य की नदी में गोते खा रहा था, उसने वह कपड़े भी तथागत को उपहार में दे दिये। राजा ने उसे फिर दो कपड़े दिये, चार जोड़ी दिये, आठ जोड़ी दिये और सोलह जोड़ी दिये। ज्यों ज्यों राजा उसको दिये जा रहा था, वह ब्राह्मण उन्हें तथागत को भेंट करते जा रहा था।

राजा ने आखिर उसे बत्तीस जोड़े कपड़े दिये, उसने वे भी भगवान को समर्पित कर दिये। राजा ने इस पर आश्चर्य व्यक्त किया और अपने अनुचरों से कहा कि वे उसके दोनों बहुमूल्य दुशालों को

लेकर आवें। नौकरों ने राजा की आज्ञा का पालन किया, राजा ने वे दुशाले उस ब्राह्मण को दिये, ब्राह्मण ने पुनः एक दुशाला तो भगवान के ऊपर आच्छादित कर दिया और एक अपने घर पर ले जाकर जहां भिक्षु भिक्षाटन हेतु आकर खड़े होते थे, उस जगह पर आच्छादित कर दिया।

राजा तथागत के दर्शनार्थ गया, उसने भगवान के आसन के ऊपर शाल को सजा हुआ देखा। राजा ने उसे पहचान लिया। वह बोला, "पूज्य, भगवान ! यह उपहार आपको किसने भेंट किया है?" भगवान बोले, "चुलेकसाटक ने।" राजा सोचने लगा, जैसा कि मैं सोचता हूँ और आनंद विभोर होता हूँ, वैसे ही वह ब्राह्मण भी विश्वास करता है और आनन्दित होता है। अस्तु, राजा ने उसे चार हस्ति, चार अश्व, चार हजार मुद्राएं, चार युवतियां, चार परिचारिकाएं और चार ग्रामों की जागीर प्रदान की।

भिक्षुओं में इस बात पर चर्चा होने लगी। वे आपस में बोले, "अरे! चुलेकसाटक का कृत्य कितना अनोखा है? उसे सब वस्तुएं चार के घटक में मिलीं ! जितना शीघ्र उसने पुण्य कर्म किया, उतना ही त्वरित गति से उसे पुरस्कार मिला।" भगवान चारिका करते हुए उधर से विहरे। उन्होंने पूछा, "भिक्षुओ ! किस बात पर चर्चा हो रही है।" भिक्षुओं ने सारी बात बतायी, भगवान बोले, "चुलेकसाटक ने पहली घड़ी में बुद्ध को अर्पण करने का सोचा, इसलिए उसे सोलह वस्तुएं मिलीं, दूसरी घड़ी में उसे बुद्ध को अर्पण करने हेतु तत्पर हुआ, अस्तु उसे आठ उपहार मिले, अन्तिम घड़ी में बिना विलम्ब किए उसने वे वस्तुएं अर्पित कीं, अस्तु, उसे चार के घटक में उपहार मिले। जो अच्छा कार्य करना चाहता है, पुण्य कर्म करना चाहता है, उसे अपने मन में पुण्य कर्म करने के लिए उत्पन्न वृत्ति को निरस्त नहीं करना चाहिए, परन्तु तुरन्त उसे क्रियान्वित कर लेना चाहिए। ज्यों ही मन में पुण्य कर्म करने का विचार उठे, उसे उसी समय कर लेना चाहिए। वह हमेशा पुरस्कृत होता है। अच्छे काम को त्वरितता से सम्पन्न करना उसका पुरस्कार है। जब पुण्य करने का ख्याल आता है, हम उसके अनुरूप कार्य को अंजाम नहीं देते हैं, वह विचार चला जाता है और हम पुण्य-लाभ से वंचित हो जाते हैं। उसकी जगह दूसरी चित्त-वृत्तियां उभर आती हैं और हमारा मन फिर उसमें लग जाता है। इसलिए मनुष्य को कल्याणकारी, शुभ कार्यों को करने में शीघ्रता करनी चाहिए और पाप कर्म से मन को दूर रखना चाहिए। पुण्य कर्म करने में देरी करने पर मन में पाप आ जाता है। पुण्यकारी कार्य करने में मनुष्य ढिलाई बरतेगा, तो उसका मन पाप कर्म में या अशुभ कर्म में लग जायेगा और जो पुण्य कर्म उससे होना था, वह होने से रह जायेगा। अस्तु, पुण्य करने में शीघ्रता करें, पाप से चित्त को हटायें, पुण्य-कार्य को धीमी गति से करने वाले का मन पाप में लग जाता है।" ऐसा कह भगवान ने यह गाथा कही—

116. अभित्थरेथ कल्याणे, पापा चित्तं निवारये।

दन्धं हि करोतो पुज्जं, पापस्मिं रमती मनो॥ 9.1 ॥

अर्थ : पुण्य करने में शीघ्रता करें, पाप से चित्त को हटायें। पुण्य-कार्य को धीमी गति से करने वाले का मन पाप में रत होने लगता है।

शब्दार्थ : अभित्थरेथ = शीघ्रता करे। दन्धं = देरी।

वग्ग 9, गाथा 2

पाप का संचय दुखदायक है

(सेय्यसक थेर की कथा, स्थान—जेतवन)

117. भगवान जेतवन विहार में विहरते थे। भिक्षु सेय्यसक की गलत आदतों के बारे में भगवान को जानकारी हुई। भगवान ने उस समय सभी भिक्षुओं को सदाचार, निय्यस कर्म और प्रवजनीय कर्मों के बारे में उपदेश दिया और बताया कि हमें प्रतिक्षण अच्छे कार्य करते रहना चाहिए। अकुशलमूल से यदि पाप कर्म हो भी जाते हैं, तो उन्हें बार-बार नहीं करना चाहिए, उससे दुख ही उत्पन्न होता है, इसलिए पाप कर्मों पर बन्दिश लगानी चाहिए। ज्योंही हमारे मन में अकुशल कर्म की वृत्ति पैदा हो, उसे कुंठित कर देना चाहिए, पुण्य का संचय करना चाहिए, पाप का विमोचन करना चाहिए। पाप कर्म में कभी भी स्वच्छन्दतापूर्वक रत नहीं होना चाहिए, उस पाप कर्म की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पाप का समुच्चय दुख है, और पाप का संचय दुखकारी होता है।" ऐसा कह भगवान ने यह गाथा कही—

117. पापञ्चे पुरिसो कयिरा, न नं कयिरा पुनप्पुनं।

न तम्हि छन्दं कयिराथ, दुक्खो पापस्स उच्चयो।। 9.2।।

अर्थ : मनुष्य यदि पाप कर भी दे, तो उसे बार-बार न करे। उसमें रत न होवे, क्योंकि पाप का संचय दुखदायक है।

शब्दार्थ : छन्दं = इच्छा। उच्चयो = समुच्चय।

वग्ग 9, गाथा 3

पुण्य का संचय सुखदायी है

(लाजदेव पुत्री की कथा, स्थान—जेतवन)

118. राजगृह में एक पिप्पली गुफा है। वहां महाकस्सप प्रायः विहरते थे। एक बार कस्सप ध्यान-विपश्यना में एकाग्र हो गए, सात दिन तक उनका ध्यान भंग नहीं हुआ। जब वे ध्यान समाधि से उठे, तो भिक्षाटन का विचार किया। उन्होंने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी, ध्यान लगाया। उन्होंने ध्यान में सुदूर एक औरत को चावल इकट्ठे करते हुए, सुखाते हुए देखा। कस्सप ने चीवर को धारण किया, भिक्षापात्र को थामा और चल पड़े—उस ओर। जब उस औरत ने महाकाश्यप को भिक्षा हेतु अपने पास आते देखा, तो वह भाव-विभोर हो गयी, आनन्दित हो गयी, उसके हृदय में श्रद्धा उमड़ पड़ी, आस्था फूट पड़ी, वह आनन्दित होते हुए बोली, "पूज्यवर ! एक क्षण इन्तजार कीजिये।" ऐसा कहते हुए वह हाथों में सूखे हुए चावल लेकर आयी। श्रद्धा और आस्था के साथ उसने उन्हें भेंट किया। कस्सप ने उसे स्वीकार किया। युवती बोल पड़ी, "पूज्यवर ! क्या मैं पुण्य की भागीदार बन सकूंगी ?" कस्सप का उत्तर था, "अवश्य !" उस औरत ने कस्सप की वन्दना की, अभिवादन किया और अपने को कृतज्ञ किया।

कस्सप भिक्षा लेकर लौट रहे थे, रास्ते में चावल का खेत था। उस चावल के खेत में सांप का एक बिल था, उसमें सर्प रहता था। कस्सप का पैर सांप पर पड़ गया, सांप ने कस्सप काट नहीं सका। वह युवती भी उधर गयी, सांप बैठा था। उसने उसको काट खाया, वह धरती पर गिर पड़ी। उसके हृदय में बुद्ध के प्रति, धम्म के प्रति और संघ के प्रति अगाध श्रद्धा थी, विश्वास था। वह तावलिंस लोक पहुंची, देवी बनी, उसने अपने अतीत पर विचार किया। मालूम हुआ, भगवान बुद्ध के पूज्य भिक्षु को अत्यल्प भिक्षा देने से उसे इतना सम्मान मिला है, वैभव मिला है। यह सब महाकस्सप को दी गयी भिक्षा का सुपरिणाम है। उसने अपने मन में ठान ली कि वह महाकस्सप की सेवा करेगी, उनके सब छोटे-बड़े कार्य करेगी और अपने को उपकृत करेगी, धन्य करेगी, कृतज्ञ करेगी।

वह प्रातः जल्दी उठती और अपनी बहुमूल्य झाड़ू से कस्सप थेर के विहार में झाड़ू लगाती, उनके आंगन को साफ करती, उस पर पानी छिड़कती। जब थेर महाकस्सप ने यह देखा, तो सोचा कि कोई सामनेर होगा, जो यह सब करता होगा। कस्सप ने दूसरे दिन भी ऐसा ही देखा और ऐसा ही सोचा। तीसरे दिन कस्सप ने अपनी कुटी से उसे आंगन बुहारते हुए देखा और उसकी आभामय कान्ति की झलक पाकर वे बोल उठे, “आर्या ! तुम कौन हो, जो यहां साफ-सफाई कर रही हो।” युवती बोली, “पूज्यवर” यह तो मैं हूं, आपकी शिष्या लाजदेव की कन्या लाजा।” कस्सप ने कहा, “इस नाम की मेरी कोई शिष्या नहीं है।” लाजदेव की कन्या ने अपनी पूरी कहानी बतायी और कहा इसलिए मैं यहां छोटे-मोटे काम कर देती हूं। कस्सप ने कहा, “अपने मन में कभी भी ऐसा मत सोचो और आगे से यहां मत आना और कहीं चले जाना।” वह रोने लगी, विक्षिप्त सी हो गयी, मूर्तिवत खड़ी रही।

भगवान तथागत जेतवन में विहरते थे, वे सर्वदृष्टा थे, समदृष्टा थे, उनकी दिव्यदृष्टि उधर पड़ी। वे उसके सामने उपस्थित हुए और बोले “देवी ! निश्चय ही यह महाकस्सप का कर्तव्य है कि वह अपने को सुरक्षित रखे, परन्तु जो पुण्य करना चाहता है, उसे यह इच्छा बार-बार करनी चाहिए और पुण्य कर्म बार-बार करना चाहिए, पुण्य ही सुख है, पुण्यों का समुच्चय ही सुख है।” भगवान बोले, “यदि मनुष्य पुण्य कर्म करता है, तो उसे बार-बार करे, उस पुण्य में रत होवे, पुण्य का संचय सुखकारी होता है, सुखदायक होता है।” ऐसा कहते हुए भगवान ने एक गाथा कही—

118. पुज्जज्जे पुरिसो कयिरा, कयिराथेनं पुनप्पुनं।

तम्हि छन्दं कयिराथ, सुखो पुज्जस्स उच्चयो॥ 9.3॥

अर्थ : यदि मनुष्य पुण्य करे, तो उसे बार-बार करे। उसमें रत होवे क्योंकि पुण्य का संचय सुखदायक होता है।

शब्दार्थ : पुरिसो = पुरुष। चे = यदि। पुज्जं = पुण्य (=अच्छाई)। कयिरा = करदे। नं = उसे। पुनप्पुनं = बारबार। तम्हि = उसमें। छन्दं = रत। कयिराथ = हो जाये। पुज्जस्स = पुण्य का। उच्चयो = संचय। सुखो = सुखदायी होता है।

फल प्राप्त होने पर कर्म सूझते हैं

(अनाथपिण्डिक सेठ की कथा, स्थान—जेतवन)

119-120. जेतवन विहार सुरभ्य था, मोहक था, उसकी ख्याति दूर-दूर व्याप्त थी। उसमें तथागत, हमारे शास्ता, महाकारुणिक विहार करते थे। जेतवन विहार भिक्षुसंघ को समर्पित करने वाला अनाथपिण्डिक महाश्रद्धालु था, आस्थावान था, दयालु था। उसने वह वन चौवन करोड़ स्वर्ण मुद्राओं में खरीदा था। वह नित्य भगवान के दर्शन पाने हेतु बिना किसी अपवाद के दिन में तीन बार जेतवन विहार जाता था। सुबह वह यवागु लेकर जाता था, दोपहर को अच्छा खाना और दवाईयां आदि लेकर जाता था और शाम को फूल एवं सुगन्धित सामग्री लेकर जाता था। यही उसकी दिनचर्या थी।

समय का चक्र सब पर एकसा चलता है, एकसा प्रहार करता है। अनाथपिण्डिक पर भी प्रहार हुआ, ख्यातिनाम सेठ, दानी श्रेष्ठि, धनी दाता देखते ही देखते निर्धन बन गया। परन्तु उसकी निर्धनता में भी सम्पन्नता थी, आनन्द था, वह स्रोतापन्न फल को प्राप्त कर चुका था। वह अपने नित्य कर्म में कभी कोताही नहीं बरतता था। उसकी दीन-हीन दयनीय दशा को देखकर एक दिन उसका द्वारपाल उसके सम्मुख उपस्थित हुआ और बोला, "स्वामी ! मैं आपका सेवक हूँ, आपके दरवाजे पर पहरा देता हूँ। यह कहना तो छोटे मुंह बड़ी बात होगी, परन्तु स्वामी ! आपने अपना सब कुछ बिना सोचे समझे श्रमण गौतम को दे दिया। इसी वजह से आप दरिद्र हो गए। स्वामी ! अब भी समय है, आप ऐसा करना छोड़ दीजिये, पुनः धनवान बन जायेंगे।"

अनाथपिण्डिक ने उसको डांटा-फटकारा और घर से बाहर कर दिया। वह द्वारपाल अनाथपिण्डिक के पास ही रहना चाहता था, परन्तु अनाथपिण्डिक के डर से वह वापस वहां नहीं जा सका। उसने शक्र (इन्द्र) के पास जाना उचित समझा। वह वहां गया। शक्र को सारी बात बतायी। इन्द्र बोले, "द्वारपाल! तुम अनाथपिण्डिक के बारे में अपने विचार बदल दो। वापस जाओ, उनसे माफी मांगो। अरे द्वारपाल! अनाथपिण्डिक से कुछ लोगों ने अट्टारह करोड़ रुपये कर्जा लिया था, जिसे उन्होंने अभी तक नहीं चुकाया है। अट्टारह करोड़ रुपये अनाथपिण्डिक के पूर्वजों ने जमीन में गाड़ रखे हैं, जो समुद्र में बह गए। दूसरे अट्टारह करोड़ एक जगह पड़े हैं, जो किसी ने नहीं लिए हैं। अरे, द्वारपाल ! जाओ, अगर कर सकते हो तो इनको प्राप्त करने का प्रयास करो, तुम अपनी करामात दिखाओ और अनाथपिण्डिक के भण्डार को अक्षुण्ण बनाओ। ऐसा कर तुम अनाथपिण्डिक से माफी पावो।"

द्वारपाल ने वैसा ही किया, जब अनाथपिण्डिक को यह सब ज्ञात हुआ तो एक दिन अनाथपिण्डिक उस द्वारपाल को भगवान बुद्ध के पास ले गया। भगवान ने उन दोनों को कहा, "कोई भी व्यक्ति अच्छे कर्म की भलाई और बुरे कर्म की पीड़ा लम्बे समय तक नहीं भोग सकता है, बल्कि सबका समय आता

है, सब फल देते हैं और पकते हैं। पाप करने वाला मनुष्य तब तक भलाई देखता है, जब तक पाप का परिणाम नहीं होता है, जब पाप परिणाम देता है, तब वह पापी को देखता है। पाप को देखता है। भला करने वाला मनुष्य तब तक पाप को देखता है, जब तक कि भलाई का परिणाम नहीं होता है, जब भलाई का परिणाम होता है, तब वह भलाई को देखता है।" तथागत ने आगे कहा, "जब तक पाप फल नहीं देता है, पापी उसमें ही अपना भला देखता है, उसे भला समझता है, परन्तु जब पाप फल देने लगता है, तो पापी अपने पापों को देखता है, ऐसे ही शुभ कर्म करने वाले भी पाप कर्मों की ओर देखते हैं, क्योंकि उस समय तक उनके शुभ कर्म फल नहीं देते हैं, और जब तक शुभ कर्म फल नहीं देते हैं, भला आदमी भी पाप कर्मों की ओर ही देखता है, परन्तु जब शुभ कार्य फल देने लगता है, तो भला आदमी शुभ कर्म को देखता है। जब तक पाप का फल नहीं मिलता है, तब तक पापी पाप को अच्छा समझता है। फल मिलने पर उसे 'पाप' दिखायी पड़ता है, पुण्य का भी फल नहीं मिलता है तब तक पुरुष उसे बुरा समझता है, परन्तु जब फल मिलता है तो वह पुण्य समझ में आता है।" ऐसा कह भगवान ने यह गाथा कही—

119. पापो पि पस्सति भद्रं, याव पापं न पच्चति।

यदा च पच्चति पापं, अथ पापो पापानि पस्सति॥ 9.4॥

अर्थ : पापी को जब तक पाप का फल नहीं मिलता है, तब तक वह भी पाप को अच्छा समझता है, किन्तु जब पाप का फल मिलता है, तब उसे पाप दिखाई पड़ने लगते हैं।

120. भद्रो पि पस्सति पापं, याव भद्रं न पच्चति।

यदा च पच्चति भद्रं, अथ भद्रो भद्रानि पस्सति॥ 9.5॥

अर्थ : जब तक पुण्य का फल नहीं मिलता है, तब तक पुण्य पुरुष भी पुण्य को बुरा समझता है, किन्तु जब पुण्य का फल मिलता है, तब उसे पुण्य दिखाई पड़ने लगते हैं।

शब्दार्थ : पापो पि = पापी भी। भद्रं = कल्याण को। याव = जब तक।



वग्ग 9, गाथा 6



पाप को थोड़ा न समझें

(असंयत परिष्कार वाले भिक्षु की कथा, स्थान—जेतवन)

121. भगवान ने समय-समय पर भिक्षुओं के लिए विनय के कई प्रकार के नियम बनाये। भिक्षुओं से अगर कोई आपत्तिजन्य कर्म हो जाता था, तो संघ में उसे प्रतिसंज्ञान करते और विनय के नियमानुसार उस पर कार्यवाही होती थी। एक बार ऐसा हुआ कई भिक्षुओं को पूछने पर वे दूसरे भिक्षुओं को बताते हैं कि उनसे कोई आपत्तिजन्य कर्म नहीं हुआ है, छोटी-छोटी त्रुटियाँ तो हो ही जाती हैं, वे संज्ञेय नहीं हैं। ये इतनी बड़ी नहीं हैं कि इन पर गम्भीरता से विचार किया जाय, उनका संज्ञान लिया जाय और भिक्षु को दण्डित किया जाय।

भगवान के ध्यान में जब ऐसे दृष्टान्त आए तो वे बोले, "भिक्षुओ ! कभी भी यह मत सोचो कि यह छोटी सी त्रुटि या भूल है, इससे उनका विनय दूषित नहीं होगा। उनका साधना-पथ डिग्रेगा नहीं। प्रत्युत: किसी भी व्यक्ति को छोटे से पाप कर्म की भी कभी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। अगर बरसात में हम एक घड़े को बाहर रख दें, तो उस वर्षा में गिरती एक बूंद से घड़ा नहीं भरता है, यह सभी जानते हैं, परन्तु यह भी याद रखना चाहिए कि घड़े का मुँह खुला है और बरसात लगातार हो रही है, बौछारें पड़ने लगी हैं, तो एक-एक बूंद से भी घड़ा भर ही जावेगा। इसलिए इसको इतना हल्के में मत लो। कभी भी मनुष्य को पाप की अनदेखी नहीं करनी चाहिए, उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए कि यह तो तुच्छ कृत्य है, इससे मेरा कुछ बिगड़ेगा नहीं। पाप मेरे पास नहीं आयेगा, पानी की बूंद-बूंद गिरने से जल से घड़ा भर जाता है, इसी प्रकार मूर्ख मनुष्य थोड़ा-थोड़ा संचय करते हुए पाप का घड़ा भर लेता है।" वे आगे बोले, "हे, भिक्षुओ ! पाप मेरे पास नहीं आयेगा। ऐसा सोचकर पाप की अवहेलना मत करो। हमारा जीवन छोटी-छोटी वस्तुओं से ही बना है, हमारी जिन्दगी में बहुत सी छोटी-छोटी वस्तुएं हैं, इन्हीं से बड़ी वस्तुएं बनती हैं, छोटी-छोटी से, थोड़ी-थोड़ी से ही बड़ी का स्थान बनता है। अत्यल्प पाप कर्म करने से बचो, अत्यल्प भी पुण्य कर्म हो, तो उसमें रत होवो। जीवन में इनका सार्थक मूल्य है। अगर ये अत्यल्प या छोटे-छोटे कृत्य अच्छे हैं, भले हैं, शुभ हैं, तो हमारा जीवन आनन्दमय होगा, सुखी होगा, प्रसन्न होगा। अपनी जागरूकता से हमें इन छोटे-छोटे कृत्यों के सम्पादन और निष्पादन में सतर्क रहना चाहिए, अकुशल कर्म चाहे कितना ही अत्यल्प क्यों न हो, उससे बचना चाहिए।" ऐसा कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

121. मावमज्जेथ पापस्स, न मन्तं आगमिस्सति।
उदबिन्दुनिपातेन, उदकुम्भोपि पूरति।
बालो पूरति पापस्स, थोक-थोकम्पि आचिनं॥ 9.6॥

अर्थ : 'वह मेरे पास नहीं आयेगा' ऐसा सोचकर पाप की अवहेलना न करें। (जैसे) पानी की बूंद के गिरने से घड़ा भर जाता है, ऐसे ही मूर्ख थोड़ा-थोड़ा संचय करके पाप (के घड़े) को भर लेते हैं।

शब्दार्थ : मावमज्जेथ = अवहेलना न करे। उदबिन्दुनिपातेन = जल की बूंद-बूंद गिरने से। उदकुम्भो = जल का घड़ा। थोकथोकम्पि = थोड़ा-थोड़ा भी। आचिनं = एकत्रित करता हुआ (आ + चि से निष्पन्न)।



वग्ग 9, गाथा 7



पुण्य को थोड़ा न समझे

(बिलालपादक सेठ की कथा, स्थान—जेतवन)

122. एक समय सावत्थि आश्रम में एक व्यक्ति था, वह प्रतिदिन भगवान के उपदेश सुनता था। भगवान के उपदेशों से अभिभूत हो, उसने लोगों को भिक्षुसंघ को दान देने के लिए

अभिप्रेक्षित किया। लोगों ने मुक्तहरत दान दिया, जिसकी जितनी श्रद्धा थी, उसने उतना दान दिया। वहाँ एक धनवान था, उसका नाम था—बिलालपादक रोठ। उसने भी दान दिया। उसका दान अन्य व्यक्तियों से ज्यादा था, अधिक था।

उस आदमी ने बिलालपादक रोठ के दान को भी अन्य लोगों के द्वारा थोड़ा-थोड़ा दिये गए दान में मिला दिया और भगवान बुद्ध को समर्पित करते हुए बोला, "पूज्य, भगवान ! यह हम सबकी ओर से सामूहिक अर्पण है। जिसने कितना दिया है, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि हम सबने श्रद्धा और शालीनता से अर्पण किया है, दान दिया है, इसलिए हम सबको बराबर-बराबर पुण्य का फल मिले।" बिलालपादक धनी रोठ उस आदमी की विनती सुन रहा था। उसका माथा ठनका, उसने सोचा उसने इतना सारा दान दिया है, उसका कोई अर्थ ही नहीं रह गया, इस आदमी ने तो सबके साथ मिला दिया और भगवान को उस बारे में कुछ बताया तक नहीं। ऐसा करके इसने अच्छा नहीं किया है। इस प्रकार के विचारों से उसका मन दूषित हो गया।

बिलालपादक रोठ का मन व्याकुल था, उद्विग्न था, उसमें पुनर्भव की भावना बढ़ती रही। वह अशोलोक में प्रादुर्भूत हुआ। जब ऐसे लोक में उसका पुनर्भव हुआ तो वह बोला, "हे, मित्र ! मैंने तुम्हारे बारे में बुरा सोचकर बहुत गलत काम किया, कृपया मुझे माफ करना।"

भगवान बुद्ध को जब ऐसा सुनायी दिया तो उन्होंने सारी घटना का पता लगाया और बोले, "हे उपाराको ! तुम्हें कभी भी पुण्य कर्मों को हल्के में नहीं लेना चाहिए। यह नहीं सोचना चाहिए कि इतना सा, छोटा सा पुण्य कर्म क्या करना, करेंगे तो कोई बड़ा पुण्य कर्म करेंगे या यह नहीं सोचना चाहिए कि यह तो छोटा सा ही पुण्य कर्म है। क्योंकि, अगर छोटे-छोटे पुण्य कर्म ही करते रहोगे, तो एक दिन वे बहुत बड़े बन जायेंगे। पुण्य का छोटा सा पुण्य-कर्म होने से मनुष्य पुण्य की अवहेलना न करे कि वह मेरे पास नहीं आयेगा। पानी की बूंद-बूंद गिरने से जल का घड़ा भर जाता है। इसी प्रकार धैर्यशाली मनुष्य थोड़ा-थोड़ा भी संचय करते हुए पुण्य का घड़ा भर लेता है। इसलिए मनुष्य को लघु या दीर्घ, तुच्छ या महत्, छोटा या बड़ा विचार न रखते हुए छोटे-छोटे पुण्य करने में भी मन लगाना चाहिए। छोटे हैं ऐसा सोचकर उन्हें टालना नहीं चाहिए, क्योंकि जो पुण्य कर्म हम करते हैं, उनका फल तो संचित होगा ही और वह सुखदायी ही होगा। इस प्रकार बहुत से छोटे छोटे कर्म इकट्ठे हो जाते हैं, तो वह पुण्य अपने आप में बड़ा बन जाता है।" ऐसा कह भगवान ने यह गाथा कही—

122. मायमज्जेथ पुज्जरस्स न मन्तं आगमिस्सति।
उदविन्दुनिपातेन, उदकुम्भोपि पूरति।
धीरो पूरति पुज्जरस्स, थोक-थोकम्पि आचिनं॥ 9.7॥

अर्थ : "वह मेरे पास नहीं आयेगा"—ऐसा सोचकर पुण्य की अवहेलना न करें। (जैसे) पानी की एक-एक बूंद के गिरने से घड़ा भर जाता है, ऐसे ही धीरे थोड़ा-थोड़ा संचय करके पुण्य को जमा कर लेता है।

पाप करना छोड़े

(महाधन वणिक की कथा, स्थान—जेतवन)

123. सावत्थि में महाधन नाम का एक धनी बनिया रहता था, उसका व्यापार उन्नति पर था, कारोबार अच्छा चलता था। वह एक ग्राम से माल लाता और दूसरे नगर में बेच आता था। एक बार वह अपना वाणिज-व्यापार करने हेतु पांच सौ बैलगाड़ियों में माल भर कर निकला, उसने अपने साथ पांच सौ भिक्षुओं को भी ले लिया। ये भिक्षु भी उसके साथी यात्री बन गए। उस धनी श्रेष्ठि ने भिक्षुओं को हर प्रकार की सुविधाओं का ख्याल रखने का भरोसा दिलाया। वे सभी एक कारवां बनाकर चल पड़े।

लुटेरों को सेठ के प्रयाण का पता लगा, उन्होंने सेठ को लूटने की योजना बनायी और गांव के बाहर जिस रास्ते से सेठ अपनी बैलगाड़ियां लेकर जाने वाला था, उस रास्ते के जंगल में जाकर छुप गए। सेठ अपना व्यापार गांव में निष्पादित कर रवाना होने की तैयारी करने लगा, उसी समय उसे लुटेरों के रास्ते में छुपे होने की भनक पड़ी। सेठ ने जाने का विचार त्याग दिया और उसी गांव में पड़ाव डाल दिया, वहीं रुक गया। लुटेरे उसका इन्तजार करते रहे। उधर सेठ को बराबर यह जानकारी मिलती रही कि लुटेरे अभी भी उस रास्ते पर डेरा डाले हुए हैं, मार्ग निष्कण्टक नहीं है। अस्तु, उसने आगे जाने का मानस त्याग दिया और वापस जाने की तैयारी करने लगा। लुटेरों को इस बात की भी खबर हो गयी और लुटेरों ने अपना पड़ाव बदल कर दूसरे मार्ग पर डाल दिया। सेठ को पुनः मालूम हुआ कि लुटेरों को इस बात की भी खबर हो गयी है और लुटेरों ने अपना पड़ाव बदल कर दूसरे मार्ग पर डाल दिया है। सेठ को पुनः मालूम हुआ कि लुटेरे उस मार्ग को भी अवरुद्ध करके बैठे हैं, तो उसने यात्रा करना कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दिया, उसने वहीं उसी गांव में पड़ाव को कुछ दिन और बढ़ा दिया और भिक्षुओं को अपना मन्तव्य बता दिया।

भिक्षु वापस सावत्थि लौट आए और वे जेतवन विहार में, जहां भगवान विरहते थे, वहां गए। भगवान की वन्दना की, स्तवन किया और पूरी बात भगवान को बतायी। भगवान ने कहा, “भिक्षुओ! महाधनवणिक ने लुटेरों से अपने को दूर कर लिया है। जो मरना नहीं चाहता है, वह अपने को जहर से दूर रखता है, इसी प्रकार एक बुद्धिमान व्यक्ति यह अनुभूत करता है कि उसकी जीवन यात्रा कई प्रकार के खतरों से भरी पड़ी है, वह अपने को उन खतरों से दूर रखता है। ये खतरे हैं, बुरे कर्म।” भगवान ने आगे कहा, “ऐसा जो जानता है वह अपने को सदैव बुरे कर्मों से दूर रखकर जीवन-यात्रा को सुखप्रद बनाता है। अगर कोई व्यापार करता है, तो वह धन कमाता है। बहुत सारा धन कमाकर वह वापस घर को जाता है और उसके साथ ज्यादा आदमी नहीं होते हैं, जो उसके धन की सुरक्षा नहीं कर सकते हैं, तो उसे ऐसे रास्तों से अपने को दूर रखना चाहिए, जिनमें खतरे की आशंका ज्यादा हो। खतरे से भरे रास्ते में उसकी जान भी जा सकती है, फिर

वह धन किस काम का। इसलिए यह अच्छा है कि ऐसे सार्यों को त्यागा जाय। हमारा जीवन की एक ऐसी ही यात्रा है, हमारे अन्दर विभिन्न तरह के दुश्मन बैठे हैं। घृणा, लालच, द्वेष, अहम्, प्रभुता आदि ऐसे दुर्गुण हमारे चित्त के लुटेरे हैं। वे हमें अचेतन या अवचेतन रूप से लुटते हैं। जिस प्रकार एक धनवान सेठ अपने धन की सुरक्षा में कभी को अनुभूत करता है, तो वह सारों के खतरों का अन्दाजा लगा लेता है, उसी प्रकार बुद्धिमान पुरुषों को भी अपने अन्दर छुपे इन लुटेरों के खतरों से सावधान रहना चाहिए।" भगवान ने कहा, "छोटे काफिले वाला महाधनी जिस प्रकार भयप्रद मार्ग को छोड़ देता है, उसी प्रकार जीने की इच्छा रखने वाले को पापों को विष के समान छोड़ देना चाहिए।" ऐसा कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

123. वाणिजो'व भयं मग्गं, अप्ससत्थो महद्धनो।

विरां जीवितुकामो'व, पापानि परिवज्जये॥ १.२॥

अर्थ : जिस तरह थोड़े सार्थ (काफिला) वाला और महाधन वाला व्यापारी भययुक्त मार्ग को छोड़ देता है, (या) जैसे जीने की इच्छा वाला पुरुष विष को छोड़ देता है, उसी प्रकार पुरुष पापों को छोड़ दे।

शब्दार्थ : मग्गं = मार्ग को। अप्ससत्थो = थोड़े साथियों वाला या छोटे काफिले वाला।



वर्ग १, गाथा १



न करने वाले को पाप नहीं

(कुक्कुटमित्त निषाद की कथा, स्थान—वेणुवन, राजगृह)

124. एक समय राजगृह में एक धनवान व्यक्ति था, उसके एक सुन्दर युवती थी, वह भगवान के धम्म में स्रोतापन्न थी। एक बार कुक्कुटमित्त नामक एक शिकारी कसबे में आता है, वहाँ पर वह हरिण का मांस बेचता है। वह जवान था, सुन्दर था, हृष्ट-पुष्ट था, वह युवती उस शिकारी को अपना दिल दे बैठती है। वह उसका अनुगमन करती है, प्यार का इजहार करती है। प्यार का इजहार होता है और दोनों विवाह कर लेते हैं। वैवाहिक जीवन में उन्हें सात पुत्र होते हैं, सातों की शादी कर दी जाती है, घर-गृहस्थी ठीक से चलती है। शिकारी हमेशा अपने शिकार की टोह में जंगल में जाता रहता है, उसकी पत्नी उसे धनुष-बाण आदि तैयार करके देती रहती है।

भगवान बुद्ध की दिव्य दृष्टि में शिकारी का यह परिवार आता है, भगवान उनमें बुद्ध, धम्म और संघ के प्रस्फुटन और पल्लवन की पूरी सम्भावना अनुमेय करते हैं और उधर जंगल में चल देते हैं—जहाँ शिकारी अपना शिकार करने जाता है। भगवान वहाँ जाकर एक झाड़ी के पास ध्यानस्थ हो जाते हैं। शिकारी शिकार हेतु जंगल में प्रविष्ट होता है, उसे कोई शिकार हाथ नहीं लगता है, वह इधर-उधर डोलता है, उसे आदमी के पदछाप दिखायी देते हैं। वह सोचता है—इसी व्यक्ति ने उसके शिकार को इधर-उधर किया है, भगा दिया है या शिकार कर लिया है। वह गुस्से से सराबोर होकर उन पदचिह्नों का पीछा करता है। भगवान समाधिस्थ हैं। वह उन्हें देखता है। गुस्से में आग-बबूला हो

जाता है और प्रत्यंचा पर धनुष को चढ़ाता है एवं भगवान को मारने के ध्येय से तीर चलाना चाहता है, परन्तु उसके हाथ रुक जाते हैं, वह मूर्ति सा बनकर वहीं खड़ा रह जाता है।

पिता के घर नहीं लौटने पर पुत्र उसका पता करने जंगल में जाते हैं, वे भी वहां पहुंचते हैं, सोचते हैं, निश्चित ही यही हमारे पिता का दुश्मन है, इसे जिन्दा नहीं छोड़ना चाहिए। वे सातों अपने तीर चलाने को उद्यत होते हैं, भगवान पर प्रहार करने को तत्पर होते हैं, पर वे भी ज्योंही धनुष प्रत्यंचा पर चढ़ाते हैं, वहीं स्थिर हो जाते हैं, रुक जाते हैं। ये आठों व्यक्ति भगवान के सामने कमान पर तीर चढ़ाये मूर्तिवत् खड़े रहते हैं। काफी समय हो जाता है, पति व पुत्रों को घर आया नहीं देख उनकी पत्नी चिन्तातुर हो अपनी बहुओं को लेकर जंगल में तलाश करने के लिए जाती है।

जंगल में जाने पर वह देखती है कि भगवान समाधिस्थ हैं और उसके पुत्र और पति उन्हें मारने के लिए तीर चलाने वाले हैं, उसके मुंह से निकलता है, “अरे ! ये तो मेरे पिता हैं, इन्हें मारिये मत!” आठों व्यक्ति उस औरत की बात सुनते हैं, पति सोचता है, “यह मेरा श्वसुर है”, लड़के सोचते हैं, “यह तो हमारे नानाजी हैं।” इस प्रकार उनके मन में करुणा का उदय हो जाता है, वे द्रवित हो जाते हैं। वे अपने धनुष और तीर दूर फेंक देते हैं और भगवान के चरणों में गिर जाते हैं। भगवान उन्हें धर्म का उपदेश देते हैं। सभी स्रोतापन्न फल को प्राप्त होते हैं।

भगवान वहां से वापस जेतवन विहार में आते हैं। थेर आनन्द उनके पास होते हैं। महाकारुणिक बताते हैं कि किस प्रकार कुक्कुटमित शिकारी के परिवार ने स्रोतापन्न फल को प्राप्त किया। भिक्षुओं ने जिज्ञासा की, “पूज्य, भन्ते ! शिकारी की पत्नी स्रोतापन्न थी, फिर भी वह अपने पति को जीव हत्या के लिए धनुष-बाण तैयार करके देती थी, जाल तैयार करके देती थी, क्या वह दोषी नहीं है ?” भगवान ने कहा, “भिक्षुओ ! स्रोतापन्न किसी को मारना नहीं चाहता है, उनके मन में जीव हत्या की इच्छा नहीं होती है, अभिप्राय नहीं होता है। यह औरत तो अपने पति की आज्ञा का पालन कर रही होती है। जैसे विष पड़ा है, उसको अगर कोई स्वच्छ हाथ से उठाता है तो विष का जहर उसके हाथों पर नहीं लगता है, हाथ निर्लिप्त रहते हैं। परन्तु अगर वहीं उसी हाथ में घाव हो, जिस हाथ में विष को लिया जाता है तो जहर से आप्त होने से बचा नहीं जा सकता। बिना घाव के हाथों का जहर कुछ नहीं बिगाड़ सकता है। इस औरत में बुराई करने की तनिक भी इच्छा नहीं है, अभिप्रेत नहीं है। वह उसमें आप्त नहीं है। यदि मनुष्य के हाथ में घाव न हो तो वह हाथ से विष को उठा सकता है। विष घाव-रहित अंग पर प्रभाव नहीं डालता है। इसी प्रकार न करने वाले को पाप नहीं लगता है।” ऐसा कह भगवान ने यह गाथा कही—

124. पाणम्हि चे वणो नास्स, हरेय्य पाणिना विसं।

नाब्बणं विसमन्वेति, नत्थि पापं अकुब्बतो॥ 9.9॥

अर्थ : यदि हाथ में घाव न हो, और हाथ में विष ले लें, तो घाव रहित शरीर में विष नहीं लगता है, इसी प्रकार (पाप) न करने वाले को पाप नहीं लगता।

शब्दार्थ : वणो = घाव। नास्स = न हो, नाब्बणं = घाव रहित।

वग्ग 9, गाथा 10

दोष लगाने वाला स्वयं भोगता है

(कोक नामक कुत्ते के शिकारी की कथा, स्थान—जेतवन)

125. कोक नामक एक शिकारी था, उसके पास शिकारी कुत्ते थे। वह उन कुत्तों को साथ में रखता था एवं अपना शिकार उन कुत्तों की मदद से करता था। लोग उसे कोक सुनखलुद्धक के नाम से पुकारते थे। एक बार वह अपने शिकारी कुत्तों के साथ शिकार करने हेतु निकला। उसी समय शहर में उसे भिक्खाटन हेतु प्रवेश करते हुए एक भिक्खु मिला। भिक्खु से उसका सामना होते ही उसके मन में विचार आया, 'आज इस श्रमण को देख लिया है, अब तो मुझे दिन भर कोई शिकार ही नहीं मिलेगा।' ऐसा सोचता हुआ, वह जंगल में प्रविष्ट हो गया। भिक्खु भी शहर में प्रविष्ट हो गया।

शिकारी को वास्तव में कोई शिकार हाथ नहीं लगा, वह थका हारा शहर की ओर वापस लौटा। उसे शहर में प्रवेश करते वक्त पुनः वही भिक्खु मिला। भिक्खु अपने भिक्खाटन से निवृत्त हो विहार जा रहा था। शिकारी आग बबूला हो गया, उसका क्रोध भड़क उठा। उसने अपने शिकारी कुत्तों को भिक्खु पर धावा बोलने का संकेत दिया। कुत्ते भिक्खु पर झपट पड़े, अचानक कुत्तों को आक्रमण करते देख भिक्खु भागा, पास में एक पेड़ था, भिक्खु उस पर त्वरित गति से चढ़ने लगा, वह पेड़ पर चढ़ ही रहा था, कुत्तों की पहुंच से दूर हो गया था। उस शिकारी ने उसे देखा, वह उधर दौड़ा और भिक्खु की ऐड़ी को दबोच लिया, उस पर अपने बाण चुभोने लगा। भिक्खु को असहनीय पीड़ा होने लगी, वह किसी न किसी तरह उससे पीछा छुड़ाना चाहता था। छीना झपटी में उसका चीवर उसके शरीर से अलग हो गया और शिकारी के ऊपर गिर गया।

कुत्तों ने सोचा भिक्खु नीचे आ गया है, वे उस पर दूट पड़े और शिकारी को लहू-लुहान कर दिया। भिक्खु से यह सब देखा नहीं गया, उसने पेड़ से एक सूखी डाली तोड़ी और उधर फेंकी, कुत्तों की समझ में आ गया कि जिसे वे काट रहे हैं, वह तो उनका मालिक ही है, वे वहां से नदारद हो गए, जंगल की ओर भाग गए। भिक्खु नीचे उतरा, उसने शिकारी को देखा, वह मृत हो चुका था। भिक्खु को बड़ा विक्षोभ हुआ, वह बड़ा दुखी हुआ। उसके मन में यह विचार सताने लगा कि वह इस पाप का भागीदार है, उससे ही यह पाप कर्म हुआ है।

वह अपने मन के सन्ताप को ज्यादा समय तक बढ़ा न सका, तत्काल महाकारुणिक के पास गया और सारा वृत्तांत कह सुनाया। भगवान ने उसे बताया कि तुम्हें इस बात पर तनिक भी सन्देह नहीं होना चाहिए कि शिकारी की मौत के तुम जिम्मेदार हो, तुम्हारा शील इससे भंग नहीं हुआ है। दस चीजें अच्छी होती हैं, दस चीजें बुरी होती हैं। उनमें तीन कायिक हैं, चार वाचिक हैं और तीन मानसिक हैं। कायिक अकुशल में 'पाणातिपात' 'अदिन्नादान' और 'कामेसुमिच्छाचार' हैं, वाचिक अकुशल में चुगली करना, झूठ बोलना, अपशब्द कहना आदि हैं। वहीं मानसिक अकुशल

में लालसा, क्रोध और व्यापाद हैं।' अगर कोई पापी भले आदमी की बुराई करता है, तो वह भले आदमी का कुछ भी बुरा नहीं कर सकता है, प्रत्युत उस बुरे आदमी का ही बुरा होता है। अगर हम ऊपर को थूक फेंकेंगे, उछालेंगे तो वह थूक हमारे मुंह पर ही गिरेगा। जो हवा के विपरीत कूड़ा फेंकेगा, फेंकता है, कूड़ा उसी को मलिन करता है। मनुष्य को अपनी बुराईयां ही बरबाद करती हैं। जो दोषरहित निर्मल पुरुष को दोष लगाता है, उसी मूर्ख को उसका पाप लौटकर लगता है। जैसे कि सूक्ष्म धूलि को हवा के प्रवाह में फेंकने पर वह फेंकने वाले पर ही पड़ती है। जो मूर्ख मनुष्य दोषरहित, शुद्ध और निर्मल पुरुष पर दोष लगाता है, पाप उस मूर्ख का उसी प्रकार पीछा करता है, जिस प्रकार धूलिकण (रज) वायु के विपरीत फेंके जाने पर पीछा करते हैं। भगवान् जेतवन में थे, उन्होंने उस समय यह गाथा कही—

125. यो अप्पदुट्टस्स नरस्स दुस्सति, सुद्धस्स पोसस्स अनंगणस्स।

तमेव बालं पच्चेति पापं, सुखमो रज्जो पटिवातं'व खित्तो॥ 9.10॥

अर्थ : जो दोषरहित शुद्ध निर्मल पुरुष को दोष लगता है, उसी मूर्ख को उसका पाप लौटकर लगता है। जैसे कि सूक्ष्म धूलि को हवा के आने की रुक्ख फेंकने से वह फेंकने वाले पर ही पड़ती है।

शब्दार्थ : अप्पदुट्टस्स = दोष रहित (सं. अप्रदुष्ट)। अनंगणस्स = निर्लिप्त निरंजन। सुखमो = सूक्ष्म। पटिवातं = वायु के विपरीत। खित्तो = फेंका हुआ।

वग्ग 9, गाथा 11

विभिन्न गति

(मणिकार कुलूपगं तिस्स थेर की कथा, स्थान—जेतवन)

126. एक समय एक अर्हत्त एक नगीनों की घड़ाई, पौलिश करने वाले मणिकार के यहां भिक्खाटन हेतु जाता है। वह मणिकार और उसकी पत्नी उसकी आवभगत करते हैं। मणिकार मांस के टुकड़ों को इधर-उधर रख रहा होता है, उसी समय कोसलराज पसेनदि के सिपाही वहां आते हैं और मणिकार को एक लालमणि ('रूबी') सौंपते हैं, और यह कहते हैं कि इसे तराशकर पालिश करके राजा को वापस करनी है। मणिकार उस लालमणि को अपने हाथ में लेता है और उसको एक मेज पर रख देता है, उसके हाथों में रक्त लगा होता है, अतः रूबी पर भी रक्त लग जाता है, वह अपने हाथ धोने हेतु अन्दर चला जाता है। इसी समय एक सारस उधर जाता है। वह पक्षी उस लालमणि को मांस का टुकड़ा समझकर निगल जाता है।

मणिकार हाथ धोकर वापस लौटता है, वह उस मणि को वहां नहीं पाकर अपने पुत्रों और पत्नियों से भी पूछता है। इस बारे में सभी अपनी अनभिज्ञता जाहिर करते हैं। तब उसने उस भिक्खु को भी पूछा। थेर ने बताया कि उसने उस रूबी को नहीं लिया है, परन्तु मणिकार को विश्वास नहीं होता है और वह उस थेर पर शक कर बैठता है, निश्चय कर बैठता है। घर में उनके

अलावा और कोई था नहीं, उसका विश्वास पक्का हो जाता है। वह अपनी पत्नी से कहता है कि वह इस भिक्षु को प्रताड़ित करे, ताकि उससे वह मणि मिल जाय।

उसकी पत्नी कहती है, "यह थेर हमारे मार्गदाता हैं, गुरु हैं, पिछले बारह वर्षों से हमारे घर इनका आना-जाना है। हमने इनको कभी ऐसे करते हुए नहीं देखा है, कृपया थेर पर इल्जाम मत लगाईये। उससे तो यही बेहतर होगा कि हम राजा के दण्ड को स्वीकार करें। थेर पर इल्जाम लगाने का कोई फायदा नहीं है।" मणिकार ने पत्नी की बात सुनी अनसुनी कर दी और झटपट घर में गया और एक रस्सी और लाठी लेकर आया।

उसने थेर को रस्सी से बांध दिया और लाठी से पीटने लगा, वह थेर से चोरी कबूल करवाना चाहता था, परन्तु थेर ने चोरी की ही नहीं, तो वह क्या बताता ? वह अपनी निर्दोषिता बताता, परन्तु मणिकार का गुस्सा इस पर और तेज हो जाता, वह उसको पीटता ही रहा, पीटते-पीटते थेर को उसने अधमरा कर दिया। थेर के नाक, मुंह और कान से खून बहने लगा। सारस, वह पक्षी, जिसने मणि को निगला था, टपकते खून को देखकर उसे खाने के लिए उधर आ गया, मणिकार गुस्से में भरा हुआ था, उसने उस पक्षी को जोर से लात मारी, बेचारा पक्षी यह असहनीय वार सहन नहीं कर सका और वहीं ढें हो गया, मर गया।

थेर यह सब देख रहा था, उसने उस मणिकार को कहा, "अरे ! उस पक्षी को देखो, वह जिन्दा है या मर गया।" मणिकार तमतमाया हुआ था, बोला, "तुम भी इस पक्षी की तरह ही मारे जाओगे।" थेर को विश्वास हो गया कि सारस मर चुका है, वह बोला, "उपासक ! याद आया लगता है सारस ने मणि को निगल लिया था।"

मणिकार ने उस पक्षी को झट से काटा, उसके पेट को चीरा तो उसमें उसे वह मणि मिल गयी। वह बहुत शर्मिन्दा हुआ और भयभीत होकर कांपने लगा। उसको अपनी गलती का अहसास हुआ, वह थेर के आगे गिड़गिड़ाया, अनुनय विनती की। थेर ने उसे माफ कर दिया। वे बोले, 'उपासक ! यह दोष न तो तेरा है और न ही मेरा है, यह तो हमारे कर्मों का फेर है, हमारे पुराने अकुशल कर्मों का पाप है। यही हमारा संसार के प्रति ऋण है, मेरी तुम्हारे प्रति कोई बुरी भावना नहीं है। सच्चाई तो यह है कि मैं एक श्रमण हूं, मुझे किसी गृहस्थी के घर में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए था, फिर भी मैं तुम्हारे घर में आया। आज के बाद मैं किसी के घर के अन्दर नहीं जाऊंगा, मैं दरवाजे पर ही खड़ा भिक्खाटन करूंगा।' ऐसा कहते हुए अर्हत्त का देहावसान हो गया। मणिकार मर कर नरक में गया और उसकी स्त्री ने स्वर्ग प्राप्त किया।

भगवान बुद्ध जेतवन विहार में थे। भिक्षुओं में जिज्ञासा थी, जानना चाहते थे, इस कृत्य-अकृत्य का फल। भगवान ने बताया— "भिक्षुओ ! कुछ लोग गर्भ में उत्पन्न होते हैं, पाप कर्मा निरय में गिरते हैं, पुण्य कर्म करने वालों की सुगति होती है और वासनाओं से शून्य चित्त वाले वीतरागी निर्वाण को प्राप्त होते हैं। वह भिक्षु अर्हत्त था, उसका परिनिर्वाण हुआ।" भगवान ने यह गाथा कही—

126. गल्भमेके उत्पज्जन्ति, निरयं पापकम्मिणो ।
सग्गं सुगतिनो यन्ति, परिनिब्बन्ति अनासवा ॥ 9.11 ॥

अर्थ : कोई गर्भ में उत्पन्न होते हैं, कोई पाप-कर्म करने वाले, नरक में जाते हैं, कोई सुगति वाले स्वर्ग को जाते हैं और अनासव (=क्षीणाश्रव) परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं।

शब्दार्थ : गल्भं = गर्भ शब्द से मनुष्य गर्भ अभिप्रेत है। निरयं = नरक। इसी अर्थ में 'निरय' का प्रयोग संस्कृत में भी होता है।

वग्ग 9, गाथा 12

पापकर्म से छुटकारा नहीं

(तीन भिक्षुओं की कथा, स्थान—जेतवन)

127. एक बार भिक्षुओं का एक संघ भगवान बुद्ध को श्रद्धा ज्ञापित करने हेतु अपने विहार से रवाना हुआ। रास्ते में एक गांव आया, वहां वे रुक गए। गांव के कुछ लोगों ने भिक्षुओं की आवभगत की, उनके लिए भोजनदान आदि का प्रबंध किया। उस गांव में भयंकर आग लग गयी और उसकी लपटें दूर-दूर तक फैलने लगीं, धुएं का छल्ला दूर-दूर तक फैल चुका था। आग की गर्मी बहुत दूरी तक अपना प्रज्ज्वलन कर रही थी। ऐसे में एक कौआ उड़ता हुआ आया और उस अग्नि के धूमचक्र में दाखिल हो गया। आग की लपटों से वह झुलस गया और गांव के बीच जाकर गिर पड़ा, कौआ मर चुका था। भिक्षुओं ने विचार किया, इस कौआ ने ऐसे कौन से बुरे कर्म किए हैं, जो उसे यह गति प्राप्त हुई, ऐसा सोचते हुए वे भगवान के दर्शनार्थ रवाना हो गए।

भिक्षुओं का एक दूसरा संघ नाव में बैठ कर भगवान के पास आ रहा था। जब यह संघ समुद्र के बीच में पहुंचा तो नाव की गति रुक गयी, पतवारें खींची गयीं, हवा का रुख दिया गया, परन्तु नाव उससे आगे नहीं बढ़ रही थी। नाव में भिक्षुओं के साथ अन्य यात्री भी थे। अतः उन्होंने लॉटरी के द्वारा यह जानने का प्रयास किया कि उनमें से ऐसा कौन कर्म-टोक है, जिसके कारण उन पर यह विपत्ति आ गयी। एक बार, दो बार और तीन बार, बारी बारी से लॉटरी निकाली गयी और तीनों ही बार नाव के मालिक की पत्नी के नाम वह लॉटरी निकली। नाविक ने दुखपूर्ण शब्दों में कहा, इस दुर्भाग्यशाली औरत की वजह से बहुत से लोग प्राण नहीं बचा सकते हैं, अतः इसके गले में भार बांध कर इसे पानी में फेंक दो, ताकि मैं देख न सकूं। लोगों ने वैसा ही किया। हवा का रुख बदला, नाव चल दी। वे जहाज से उतरे और भगवान के विहार की ओर चल दिये।

उन्हें रास्ते में एक तीसरा दल भी मिला। वो भी भगवान के दर्शनार्थ जा रहा था। इस प्रकार तीनों दल भगवान से मिलने पहुंचे। तीनों की अपनी-अपनी जिज्ञासाएं थीं। भगवान ने उन तीनों को बताया कि हम बुराई के फल से पाप कर्मों के फल से, कहीं भी बच नहीं सकते हैं। अगर इस समय बच गए तो अनागत किसी न किसी गति में उसके फल हमें भोगने ही पड़ेंगे। उन्होंने बताया कि एक समय एक किसान अपने बैल पर बहुत क्रोधित होता था, उसने उसको रस्सी से बांध

कर आग लगा दी। उसका हश्म कौवे के रूप में खुद के जलने से हुआ। ऐसी ही एक औरत का पालतू कुत्ता था, वह जहां भी जाती, कुत्ता उसके पीछे-पीछे जाता था। शहर भर के बच्चे उस महिला को चिढ़ाते थे। उसने कुत्ते के गले में मिट्टी का ढेला बांध कर पानी में डुबो दिया। उसे इस रूप में डूब कर फल भोगना पड़ा। ऐसे ही एक बार कुछ ग्वालों ने एक छिपकली को एक टीले पर देखा, वह बिल में जा रही थी, इन ग्वालों ने उस ढेर से बाहर निकलने के सभी छिद्र बंद कर दिये और चले गए, उन्हें याद तक नहीं आया। सातवें दिन याद आया, तब वे गए और छिद्र को अनावृत किया। उन्हें अपनी इस गलती के लिए विभिन्न गतियों में सात-सात दिन जेल में रहना पड़ा। भगवान इस प्रकार समझा रहे थे। इतने में एक भिक्षु बोला, "पूज्य, भगवान ! क्या पाप करने वाले के लिए छुपने के लिए कहीं भी जगह नहीं है, उसके बचने के लिए आकाश, समुद्र और गुफा आदि कहीं पर भी कोई जगह नहीं है। भगवान ने उससे कहा, "भिक्षु ! तुम ठीक कह रहे हो। आकाश या अन्य कोई भी जगह पाप कर्मों के फलों से बचने की नहीं है। न अन्तरिक्ष में, न समुद्र के बीच में, न पर्वतों की गुफा में घुसकर इससे बचा जा सकता है। संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहां रहकर व्यक्ति पापकर्म से बच सके। जगत् में ऐसा कोई प्रदेश विद्यमान नहीं है, जहां जाकर मनुष्य पापकर्म से मुक्त हो सके, जहां रहकर प्राणी पापकर्मों के फल से बच सके।" ऐसा कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

127. न अन्तलिक्खे न समुदमज्झे, न पब्बतानं विवरं पवस्सि।

न विज्जति सो जगतिप्पदेसो, यत्थद्धितो मुञ्चेय्य पापकम्मा।। 9.12।।

अर्थ : न आकाश में, न समुद्र के मध्य में, न पर्वतों के विवर में प्रवेश कर-संसार में कोई स्थान नहीं है, जहां रहकर पाप-कर्मों (के फल) से प्राणी बच सके।

शब्दार्थ : विवरं=गुफा। पवस्सि=घुसकर। विज्जती=विद्यमान है। मुञ्चेय्य=बच सके।



वग्ग 9, गाथा 13



मृत्यु से छुटकारा नहीं

(सुप्पबुद्ध शाक्य की कथा, स्थान—निग्गोधाराम, कपिलवत्थु)

128. महावंश में राजा सुप्रबुद्ध को राहुल माता यसोधरा का पिता बताया गया है। वह भगवान बुद्ध के प्रति ठीक विचार नहीं रखता था। जिधर से भगवान भिक्षाटन निमित्त निकलने वाले थे, उस मार्ग पर नशे में उन्मत्त होकर उसने एक दिन रास्ते को अवरुद्ध कर लिया। जब भगवान बुद्ध और उनका भिक्षुसंघ उधर से विहार करने लगा, तो उसने रास्ता देने से मना कर दिया और कहलवा भिजवाया, "मैं उस श्रमण गौतम को रास्ता नहीं दे सकता हूं, वह अभी बहुत छोटा है।" भगवान रास्ता अवरुद्ध हुआ जान अपने भिक्षुसंघ के साथ दूसरी ओर मुड़ गए और चल पड़े।

सुप्रबुद्ध ने अपने एक विश्वासपात्र गुप्तचर को भगवान बुद्ध के पीछे इस निर्देश के साथ भेजा कि वह यह पता लगाये कि तथागत गौतम क्या कहता है, किंवा उसकी क्या प्रतिक्रिया है। भगवान

ने मुड़ते हुए कहा, "आनन्द ! चूंकि राजा सुप्रबुद्ध ने बुद्ध को रास्ता नहीं दिया है, इसलिए आज से सात दिन बाद वह अपने महल की अट्टारी की सीढ़ियों पर धरती में समा जायेगा। राजा के गुप्तचर ने यह बात सुनी और उसने जाकर राजा सुप्रबुद्ध को बतायी। राजा ने अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए बताया कि वह उन सीढ़ियों के नजदीक ही नहीं जायेंगे। इसके साथ ही उसने उन सीढ़ियों को ही उखाड़ दिया और अपने आप को परिचरों से घिरा हुआ रखा। सभी नौकरों को निर्देश दे दिया कि अगर वह थोड़ा भी डिगे तो उसे पकड़ लिया जाय, सम्भाल लिया जाये।

भगवान बुद्ध को राजा सुप्रबुद्ध की इस पूरी तैयारी के बारे में, सावधानी के बारे में बताया गया। तब भगवान ने कहा, "भिक्षुओ ! राजा सुप्रबुद्ध महल की अट्टारी में रहता है या आकाश में, समुद्र में या गुफा में, मेरे शब्द गलत नहीं हो सकते हैं। सुप्रबुद्ध उसी जगह पर जिसका मैंने जिक्र किया है, वह गिर पड़ेगा, धरती पर गिरने से उसकी मौत होगी, उसे धरती निगल जायेगी।"

सातवें दिन भिक्खाटन के समय शाही घोड़े अनजाने ही भयभीत होने लगे और जोर-जोर से आवाजें करने लगे, लताड़ें मारने लगे। राजा सुप्रबुद्ध ने अपने घोड़े के चिंघाड़ने की भी आवाज सुनी। राजा के ध्यान में आया। वह उसके पास इस अभिप्राय से गया कि वह अपने घोड़े को काबू में कर लेगा। वह सब सावधानियां भूल चुका था, घोड़ा तीव्र गति से भागा। राजा को उसी जगह ले जाकर पछाड़ा, जिस जगह का भगवान ने कथन किया था।

भगवान ने धर्म प्रविचय करते हुए बताया कि मृत्यु के कई कारण होते हैं। हमारी आयु का खत्म हो जाना इसका एक कारण है। हमारे कर्मों का खत्म हो जाना दूसरा कारण है। तीसरा इन दोनों कारणों से मृत्यु होना और अकाल मौत होना। कच्ची मौत, जो समयपूर्व होती है, वह या तो हमारे पूर्व जन्मों के कारणों से घटित होती है या वर्तमान जीवन के कर्मों से। भगवान ने कहा कि न आकाश में, न समुद्र में, न पर्वतों के विवर में प्रवेश कर हम मृत्यु से बच सकते हैं। 'संसार' में कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहां रहने वाले को मृत्यु न सताये। ऐसा कह भगवान ने यह गाथा कह दी—

128. न अन्तलिक्खे न समुद्मज्झे, न पब्बतानं विवरं पवस्सि।

न विज्जति सो जगतिप्पदेसो, यत्थद्धितं नप्पसहेय्य मच्चू।। 9.13।।

अर्थ : न आकाश में, न समुद्र के मध्य में, न पर्वतों के विवर में प्रवेश कर संसार में कोई स्थान नहीं है, जहां रहने वाले को मृत्यु न सतावे।

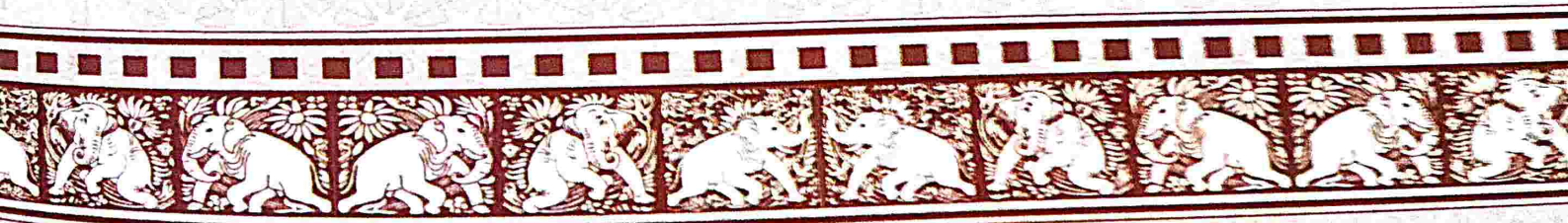
शब्दार्थ : नप्पसहेय्य = न सतावे (सं. न प्रसहेत)।

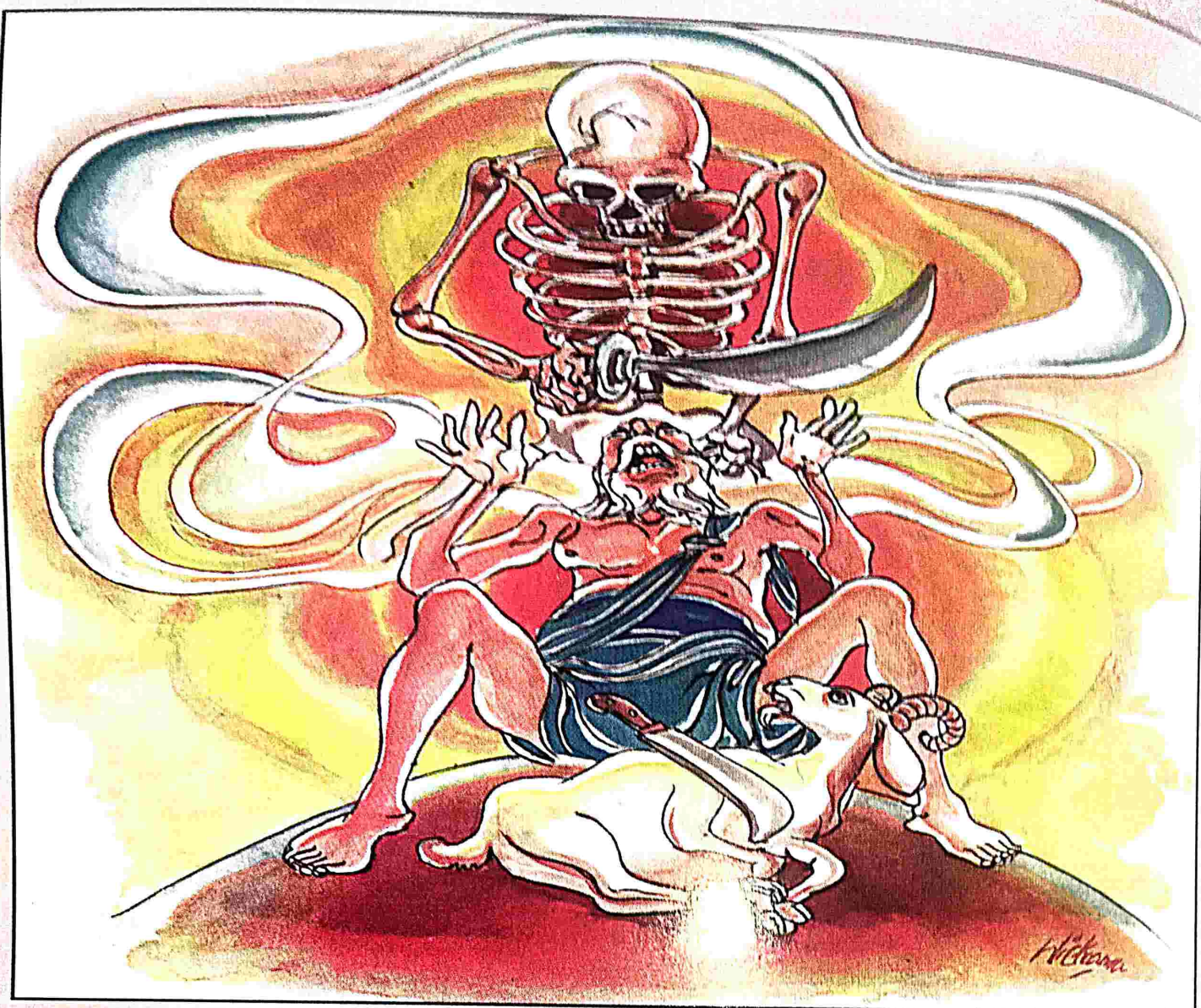




दण्डकथा

THE PUNISHMENT





सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बे भायन्ति मच्चुनो ।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये ॥

अर्थ : दण्ड से सभी डरते हैं, मृत्यु से सभी भय खाते हैं, अपने समान (इन बातों को) जानकर न किसी को मारें, न मारने की प्रेरणा करें ।

को प्रस्फुटित, विकसित और हृदयंगम करने वाली, पल्लवित करने वाली हैं। बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर ने इन गाथाओं में से गाथा संख्या 129, 132, 134, 137, 138, 139, 142, 143 व 144 का अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'भगवान् बुद्ध और उनका धम्म' में यथाप्रसंग उपयोग किया है।

10. दण्ड वग्गो

वग्ग 10, गाथा 1

दण्ड से सभी डरते हैं

(छः वर्गीय भिक्खुओं की कथा, स्थान—जेतवन)

129. एक समय जेतवन विहार में एक सत्रह भिक्खुओं का संघ आराम के लिए परिसर की साफ सफाई कर रहा था। उसी समय छः भिक्खुओं का एक समूह और आ गया और उस संघ ने सत्रह भिक्खुओं के संघ से कहा, "आप लोग यहां से अन्यत्र चले जाइये, इस जगह पर हम रहेंगे।" उन्होंने जवाब दिया, "हम साफ-सफाई करके इसको अपने अनुकूल बना रहे हैं, हम ही इसमें आवासिक होंगे।" छः वर्गीय भिक्खुओं ने कहा, "अरे ! हम तुम से अग्र हैं, बड़े हैं, वरिष्ठ हैं, अच्छाई इसी में है कि तुम अपना अन्य रास्ता खोजो। अन्य आवास खोजो।"

दोनों में बातचीत बढ़ गयी, तकरार हो गयी और नौबत हाथापाई तक आ गयी। छः वर्गीय भिक्खुओं ने दूसरे दल को पीट दिया। महाकारुणिक दिव्य पुरुष थे, भिक्खुसंघ के दाता थे, जनक थे, पिता थे। उनकी समदृष्टि सभी पर थी। ऐसे छोटे-मोटे झगड़े, आपसी तू-तू, मैं-मैं होना स्वाभाविक था, भिक्खु अलग-अलग प्रदेशों से आते थे, सभी की अलग-अलग मनोवृत्ति होती थी, अलग-अलग समझ होती थी, सीखने के लिए आते थे। भिक्खु बन जाने का मतलब यह तो नहीं हो जाता है कि वह व्यक्ति राग, द्वेष और मोह से तुरंत ही पूर्णतः छुटकारा पा चुका है। उनमें भी कलह-क्लेश, शको-शुबहा हो ही जाता था। भगवान् दृष्टा थे। वे इन सब बातों को जानते थे। इसलिए उन्होंने समय-समय पर विनय के नियम निर्धारित किए, मापदण्ड तय किए, सिद्धांत बनाये, अच्छे और बुरे का भेद बताया।

इस कलह का भी जब भगवान् को पता लगा, तो उन्होंने सभी को विनय के बारे में संज्ञान कराया, विनय की शिक्षा दी। तथागत सावत्थि के जेतवन-विहार में विहरते थे। उन्होंने बताया, "भिक्खुओ ! शास्ता से कौन डरता है ? दण्ड से सभी भय खाते हैं, सभी मृत्यु से भय खाते हैं। अगर हमें कोई मारे, तो हमें कितना बुरा लगेगा, हमारी क्या हालत होगी, हम उसे अच्छी तरह से जान सकते हैं, वैसे ही अगर दूसरों को भी मारेंगे, तो उन पर भी वैसी ही गुजरेगी। जैसा व्यवहार हम अपने प्रति चाहते हैं, वैसा ही व्यवहार हमें दूसरों के प्रति करना चाहिए। दूसरों को मारते समय हमें मार खाने वाले की जगह पर अपने को रखकर अनुभव करना चाहिए। सभी अपने ही समान हैं। किसी को मारें नहीं और न ही किसी पर घात करें, प्रहार करें, हमला करें, किसी को भी मारने के लिए प्रेरित भी नहीं करना चाहिए।"

"सभी मनुष्य आत्म औपमय हैं। सब एक समान हैं, एक ही प्रकृति है सबकी—बुद्ध प्रकृति,

अनात्म स्वरूप। व्यक्तियों को पृथक-पृथक मान कर कभी भी यह मत सोचो कि यह अन्य ही है। अगर सभी की प्रकृति एक सी ही है, तो उसको क्या नाम देंगे हम—अनात्म। कोई आत्म नहीं, व्यक्ति नहीं, समष्टि की मूल प्रकृति अनात्म स्वरूप ही है।” भगवान ने भिक्खुओं को इस प्रकार धम्मोपदेश देकर गाथा कही—

129. सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बे भायन्ति मच्चुनो।

अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये ॥ 10.1॥

अर्थ : दण्ड से सभी डरते हैं, मृत्यु से सभी भय खाते हैं, अपने समान (इन बातों को) जानकर न किसी को मारें, न मारने की प्रेरणा करें।

शब्दार्थ : तसन्ति = डरते हैं; भायन्ति = भयभीत होते हैं अथवा भय खाते हैं।



वग्ग 10, गाथा 2



दण्ड से सभी डरते हैं

(छः वर्गीय भिक्खुओं की कथा, स्थान—जेतवन)

130. भगवान बुद्ध के द्वारा उन्हें विनय और दण्ड के बारे में बताये जाने पर उस समय तो भिक्खु शान्त हो गए, परन्तु कुछ समय बाद फिर आपस में कलह करने लगे। विनय के नियमों में किसी को मारने से वर्जित करने का नियम पहले से मौजूद था। इस दूसरी बार के कलह का मुद्दा भी वही आवास स्थान था और वे ही दोनों दल थे, परन्तु इस बार छब्बर्गीय भिक्खुओं ने उन्हें मारा नहीं, उन पर गुस्सा करके हाथ उठाये, उनको डराया धमकाया। दूसरे भिक्खुओं का दल डर के मारे कांपने लगा और चिल्लाने लगा। भगवान ने जब यह सुना, तो उन्होंने पुनः विनय के नियमों को दोहराया और किसी को भयभीत करने के उद्देश्य से हाथ उठाने को भी विनय के नियम में शामिल किया और इस बात पर जोर दिया कि सभी को जीवन प्यारा होता है। जिस प्रकार हमें अपना जीवन प्रिय लगता है, वैसे ही दूसरों को भी उनका जीवन प्रिय लगता है। सभी प्राणी दण्ड से भयभीत होते हैं, सभी मनुष्यों को जीवन प्रिय है, इन बातों को अपने समान जानकर न तो किसी को मारें और न ही किसी को मारने की प्रेरणा दें। भगवान ने ऐसा कह यह गाथा कही—

130. सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बेसं जीवितं पियं।

अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये ॥ 10.2॥

अर्थ : सभी दण्ड से डरते हैं, सबको जीवन प्रिय है, (इन बातों को) अपने समान जान कर न किसी को मारें और न मारने की प्रेरणा करें।

शब्दार्थ : सब्बे = सभी। दण्डस्स = दण्ड से। तसन्ति = डरते हैं। सब्बेसं = सभी के लिए। जीवितं = जीवन। पियं = प्रिय है। अत्तानं = अपने आप को। उपमं = उदाहरण। कत्वा = करते हुए (=बनाते हुए।) न हनेय्य=नहीं मारे। न घातये = न मारने की प्रेरणा दे।

वग्ग 10, गाथा 3-4

प्राणियों की हिंसा न करें

(बहुत से लड़कों की कथा, स्थान—जेतवनाराम)

131-132. एक समय भगवान बुद्ध भिक्खाटन हेतु सावत्थि में विहार कर रहे थे। वहां पर रास्ते में बहुत से लड़के एक सांप को लकड़ियों से मार रहे थे। तथागत रुके, पूछा, "कुमारो ! क्या कर रहे हो ?" लड़कों का जवाब था, "भन्ते ! सर्प को मार रहे हैं ?" भगवान ने कहा, "ऐसा क्यों कर रहे हो ?" लड़कों का उत्तर था, "उन्हें सांप से भय लगता है, कहीं यह सांप उनको काट न ले।" भगवान ने उनको समझाया और बताया कि अगर तुम चाहते हो कि तुम्हें तकलीफ न हो, कष्ट न हो, तो तुम भी दूसरों को तकलीफ मत दो, कष्ट मत दो। अगर तुम दूसरों को कष्ट पहुंचाओगे तो तुम अपने अगले भव में कैसे सुखी रह पाओगे। अपने सुख की इच्छा करता हुआ जो मनुष्य सुख चाहने वाले प्राणियों को दण्ड से मारता है, वह बाद में भी सुख प्राप्त नहीं करता है और जो अपने सुख की इच्छा करता हुआ सुख चाहने वाले प्राणियों को दण्ड से नहीं सताता है, वह बाद में भी सुख प्राप्त करता है। भगवान ने कहा, "कुमारो ! जो सुख चाहने वाले प्राणियों को अपने सुख की चाह से दण्ड से मारता है, वह मर कर भी सुख नहीं पाता है, वहीं सुख चाहने वाले प्राणियों को अपने सुख की चाह से दण्ड से नहीं मारता है, वह बाद में भी सुख पाता है, मर कर भी सुख पाता है।" ऐसा कह भगवान ने यह गाथा कही—

131. सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन विहिंसति।

अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सो न लभते सुखं॥ 10.3॥

अर्थ : जो सुख चाहने वाले प्राणियों को अपने सुख की चाह से दण्ड से मारता है, वह मर कर सुख नहीं पाता।

132. सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन न हिंसति।

अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सो लभते सुखं॥ 10.4॥

अर्थ : जो सुख चाहने वाले प्राणियों को अपने सुख की चाह से दण्ड से नहीं मारता है, वह मर कर सुख पाता है।

शब्दार्थ : सुखकामानि = सुख की इच्छा करता हुआ। पेच्च = मरकर।

वग्ग 10, गाथा 5-6

कटु वचन न बोलो

(कुण्डधान थेर की कथा, स्थान—जेतवन)

133-134. कुण्डधान नाम का एक भिक्खु था, वह जबसे भिक्खुसंघ में प्रविष्ट हुआ था, तब से उसे अपने पीछे-पीछे एक औरत की आकृति पीछा करती हुई नजर आती थी। इस आकृति को

कुण्डधान ने कभी भी नहीं देखा था, उसके अवधान में यह कभी भी नहीं आयी थी, परन्तु अन्य लोगों को उस औरत की आकृति स्पष्ट दिखायी देती थी।

वह भिक्खाटन निमित्त भिक्खापात्र लेकर जाता, तो लोग उसे यह कहते हुए सामग्री देते कि, "भन्ते! यह आपके लिए और यह आपके साथ वाली के लिए।" भिक्खु ने उस आकृति को कभी देखा नहीं था। अतः वह इस बारे में अनभिज्ञ था। वह कुछ नहीं बोलता था, भिक्खा लेकर चल देता था।

जनता में बातें होने लगीं और लोग कहने लगे कि देखो भिक्खु औरत के साथ भिक्खाटन करने निकलता है। कुछ लोग कोसलराज पसेनदि के पास गए और निवेदन किया कि महाराज कुण्डधान नामक भिक्खु आपके राज्य में विचरण करता है और सदाचार के गुण से सम्पन्न नहीं है आपके राज्य में यह कैसे हो रहा है ? राजा ने उनकी बातें सुनीं और निश्चय किया कि वह खुद जाकर इसकी जानकारी लेगा, तब ही कोई निर्णय लेगा। अस्तु, जहां भिक्खु का आवास था, राजा वहां पर गया।

राजा अपने परिचरों और सेवकों के साथ गया था, भिक्खु अपने आवास में था। जब बाहर कोलाहल सुना तो भिक्खु अपने आवास से बाहर आकर दरवाजे पर खड़ा हो गया। राजा ने उस भिक्खु को देखा तो उसे भी एक औरत उसके साथ खड़ी दिखायी दी। राजा कुटी में प्रविष्ट हुआ, परन्तु वहां पर राजा ने किसी औरत को नहीं देखा।

राजा ने तत्काल भिक्खु से पूछा, "भन्ते ! वह औरत कहां है ?" भिक्खु का जवाब था, "उसने किसी औरत को नहीं देखा है।" राजा ने कहा, "ऐसी बात है तो आप थोड़ी देर कुटि से बाहर चले जाइये।" भिक्खु ने कुटि से बहिर्गमन किया। राजा ने जब उस भिक्खु को देखा, तो उस भिक्खु के साथ वह औरत खड़ी दिखायी दी। भिक्खु जब वापस कुटी में प्रविष्ट हुआ, तो उसके पास वह औरत नहीं थी। राजा ने अर्थ लगाया कि यह कोई वास्तविक औरत नहीं है, भिक्खु निर्दोष है। अस्तु, उसने भिक्खु को प्रतिदिन महल में भिक्खाटन हेतु आमन्त्रण दे दिया।

जब दूसरे भिक्खुओं ने यह सुना तो वे बड़ी दुविधा में पड़े और उस भिक्खु को कहने लगे, "अरे सदाचारहीन भिक्खु ! जिस राजा को तुम्हें अपने साम्राज्य से देश-निकाला, दे देना चाहिए, वह तुम्हें भिक्खाटन हेतु आमन्त्रण दे रहा है, तुम निन्दा के पात्र हो, निन्दनीय हो।" भिक्खु ने भी कटाक्ष किया, "तुम भी सदाचार विहीन हो ! तुम लोग ही निन्दनीय हो, क्योंकि तुम ही औरतों के पीछे भागते हो ?"

बात भगवान बुद्ध तक पहुंची। भगवान ने भिक्खु कुण्डधान को बुला कर कहा, "कुण्डधान ! क्या तुमने दूसरे भिक्खुओं के साथ कभी किसी औरत को देखा है, जो तुम उन्हें ऐसा कह रहे हो ?" "जिस प्रकार तुमने उनके साथ किसी औरत को नहीं देखा है, वैसे ही इन्होंने तुम्हारे साथ औरत को देखा है।" "मैं जानता हूं कि तुम इसको नहीं समझ सकते हो। तुम पिछले जन्म में शापित हुए हो, इसलिए तुम्हारे साथ वह आकृति नजर आती है।"

भगवान ने बताया कि पिछले भव में दो भिक्षु थे, जिनका एक दूसरे के प्रति बहुत गहरा लगाव था, वे बड़े मित्र थे, तुम यह नहीं चाहते थे, अतः तुम उनके बीच में एक के साथ औरत बनकर प्रकट हो जाते थे। इस पापकृत्य से इस भव में वह आकृति तुम्हारा पीछा कर रही है। आगे से किसी भिक्षु से जिरह मत करना, शान्त रहना, तुम निर्वाण के राही हो, उस मार्ग पर आरुढ़ होओ। किसी से कठोर वचन मत कहो। कठोरता से बोलोगे, तो दूसरे भी तुम्हें वैसा ही जवाब देंगे। कठोर वचन दुखदाई होते हैं और इससे तुम में हिंसा की भावना पैदा होगी। अगर तुम अपने आपको दूटे हुए कांसे के समान निःशब्द करलो, तो तुम निर्वाण को प्राप्त कर लोगे और तुम्हारे लिए प्रतिहिंसा की भावना नहीं रहेगी। इसलिए किंचित मात्र भी कठोर वचन मत बोलो, क्योंकि जिनको तुम कठोर वचन बोलोगे, वह भी तुम्हारे लिए वैसा ही बोलेंगे। क्रोध युक्त वाक्य दुखदाई होते हैं, उन्हें बोलने से दण्ड तुम्हारा ही उल्टा स्पर्श करेगा। अगर दूटे हुए कांसे की तरह अपने आप को निःशब्द कर लिया तो निर्वाण प्राप्त कर लिया और तुम्हारे प्रति क्रोधयुक्त वचन भी नहीं रहे। भगवान ने इस प्रकार उपदेश देते हुए ये गाथाएं कहीं—

133. मावोच फरुसं कज्जि, वुत्ता पटिवदेय्यु तं।

दुक्खा हि सारम्म-कथा, पटिदण्डा फुरसेय्यु तं॥ 10.5॥

अर्थ : कटु वचन मत बोलो, बोलने पर (दूसरे भी वैसे ही) तुम्हें बोलेंगे। प्रतिवाद दुखदायक होता है, (अतः) उसके बदले में तुम्हें दण्ड मिलेगा।

134. सचे नेरेसि अत्तानं, कंसो उपहतो यथा।

एस पत्तोसि निब्बानं, सारम्मो ते न विज्जति॥ 10.6॥

अर्थ : यदि तुम अपने को दूटे कांसे की भांति निःशब्द कर लोगे, तो तुमने निर्वाण पा लिया, फिर तुम्हारे लिए कोई प्रतिवाद नहीं रहता।

शब्दार्थ : फरुसं = कठोर। कज्जि = कुछ। वुत्ता = कहा गया, उक्त। सारम्म-कथा = क्रोधयुक्त वाक्य। फुरसेय्यु = स्पर्श करेंगे। नेरेसि = न+ईरेसि = नहीं बोलते हो अर्थात् निःशब्द हो। उपहतो = दूटा हुआ। पत्तोसि = प्राप्त हो।



वग्ग 10, गाथा 7



बुढ़ापा और मृत्यु आयु को ले जाते हैं

(विशाखा आदि उपासिकाओं की कथा, स्थान—पुब्बाराम, सावत्थि)

135. एक बार सावत्थि के पुब्बाराम (पूर्वाराम) विहार में उपोसथशील का पालन करने वाली पांच सौ उपासिकाएं आयीं। यह विहार विशाखा ने भिक्षुसंघ को दान में दिया था। विशाखा को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि सभी महिलाएं विभिन्न ध्येय को लेकर उपोसथ कर रही हैं और यहां आयी हैं। उसे ज्ञात हुआ कि वृद्ध महिलाओं का अभिप्राय था कि अगले भव में उनकी अच्छी गति हो, अघेड़ उम्र की औरतें अपने जीवन की त्रासदियों से मुक्त होने हेतु ऐसा कर रही थीं। जवान विवाहित युवतियों की अभिलाषा थी कि उन्हें पहले पुत्र की प्राप्ति हो और अविवाहित युवतियों की

चाह थी कि उन्हें अच्छा वर मिले। सभी के अपने-अपने सपने थे, सभी के अपने-अपने ध्येय थे। सभी की अपनी-अपनी मनोकामनाएं थीं।

विशाखा उन उपासिकाओं सहित भगवान के पास गयी और भगवान को इन सभी विभिन्न व्यक्तियों की महिलाओं की अलग-अलग तरह की आकांक्षाओं के बारे में बताया। भगवान ने उनको बताया, "विशाखा ! जन्म, आयु (बुढ़ापा) और मृत्यु प्राणी के जीवन में सदैव घटित होता रहता है। जो जन्मा है, उसकी आयु होगी और क्षय होगा, अन्ततोगत्वा उसकी मृत्यु होगी। यह निश्चित है कि जो जन्मा है, वह मरेगा। फिर भी प्राणी अपनी मुक्ति का रास्ता नहीं ढूँढता है, उस पर चलायमान नहीं होता है और इस भवार्णव जगत् में बार-बार अस्तित्व में आता है, जन्म लेता है। वे इस संसार में भ्रमण करते रहते हैं। जिस प्रकार एक ग्वाला डण्डे से गायों को घेर लेता है, उन्हें चरागाह में वापस ले जाता है; वैसे ही बुढ़ापा और मृत्यु प्राणियों की आयु को ले जाते हैं।" ऐसा कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

135. यथा दण्डेन गोपालो, गावो पाचेति गोचरं।

एवं जरा च मच्चु च, आयुं पाजेन्ति पाणिनं॥ 10.7॥

अर्थ : जैसे ग्वाला लाठी से गायों को चरागाह में ले जाता है, वैसे ही बुढ़ापा और मृत्यु प्राणियों की आयु को ले जाते हैं।

शब्दार्थ : यथा = जैसे। गोपालो = गोपालक (=गायों को चराने वाला)। दण्डेन = लाठी से। गावो = गायों को। गोचरं = गायों के विचरने वाले स्थल यानी चरागाह। पाजेन्ति = ले जाता है। एवं = ठीक उसी प्रकार। जरा = बुढ़ापा। मच्चु = मृत्यु। च = और। पाणिनं = प्राणियों की। आयुं = आयु को (=उम्र को)। पाजेन्ति = ले जाते हैं।



वग्ग 10, गाथा 8



पापी अपने ही कर्मों से अनुताप करता है

(अजगर प्रेत की कथा, स्थान—राजगृह वेणुवन)

136. एक बार महामोग्गल्लान थेर लक्ष्मण के साथ चारिका कर रहे थे, उन्होंने एक प्रेत को जलते हुए देखा। मोग्गल्लान मुस्कराये और चल दिये, पर वे बोले कुछ नहीं। जब वे जेतवन विहार में पहुंचे, तो भगवान की उपस्थिति में मोग्गल्लान ने वह बात बतायी। भगवान ने बताया कि बोधिलाम के समय उन्हें भी ऐसा अनुभव हुआ था। उन्होंने कथा कही कि कस्सप बुद्ध (पच्चेक बुद्ध) के समय एक बड़ा ही निर्दयी चोर था, उसने एक धनवान के घर में सात बार आग लगा दी। उसने कस्सप बुद्ध को भेंट की गयी सामग्री को भी आग में जला दिया, उसको भी आग लगा दी। ऐसे बुरे कृत्यों से उसकी निरय गति हुई। वह अपने बराबर की लपटों में जलता रहा। मूर्ख अपने बुरे कर्मों को करते वक्त यह नहीं सोचता है कि वह बुरे कर्म, अकुशल कर्म कर रहा है, परन्तु वह उन बुरे कर्मों के परिणाम से बच नहीं सकता है। सुगति और दुर्गति हमारे कर्मों से ही होती है। बुरे कार्य करने के पश्चात् दुर्बुद्धि अनुताप करता है। यह उसका जलना है, अनुताप की वह

आग किसी अग्नि से कम नहीं होती है। पाप कर्म करता हुआ मूर्ख मनुष्य उसे नहीं समझता है। वह दुर्बुद्धि मनुष्य अपने पाप कर्मों से इस प्रकार सन्तप्त हो जाता है, जिस प्रकार अग्नि से जला हुआ मनुष्य होता है। भगवान ने इसी तथ्य को आधार बनाकर यह गाथा कही—

136. अथ पापनि कम्मनि, करं बालो न बुज्झति।
सेहि कम्मेहि दुम्मेधो, अग्निदद्धोव'व तप्पति॥ 10.8॥

अर्थ : पाप कर्म करते समय मूर्ख उसे नहीं बूझता है, किन्तु पीछे (वह) दुर्बुद्धि अपने ही कर्मों के कारण आग से जले की भांति अनुताप करता है।

शब्दार्थ : करं = करता हुआ। बुज्झति = समझता है। सेहि = अपने। अग्निदद्धो = आग से जले हुये की तरह।



वग्ग 10, गाथा 9-12



दस बातों में से किसी एक को पाता है

(महामोग्गल्लान थेर की कथा, स्थान—वेणुवन, राजगृह)

137-140. भगवान बुद्ध के अग्रशिष्य महामोग्गल्लान ध्यान-प्रवीण और कुशाग्र बुद्धि थे, उनके सानी का बुद्ध शासन में कोई दूसरा नहीं था, उनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल चुकी थी। उस समय निगण्ठों का सम्प्रदाय भी फलीभूत था, वे लोग मोग्गल्लान से ईर्ष्या रखते थे, डाह रखते थे। उन्होंने मन्त्रणा की, जब तक मोग्गल्लान जीवित रहेगा, तैथिकों (निगण्ठों) का लाम सत्कार नहीं होगा। उसका योग-बल अपरिमित है, वह अपनी रिद्धि-सिद्धि से देव और मनुष्यों को तुष्ट करता है। उसके कारण तथागत का आदर-सत्कार और प्रशंसा भी बढ़ती है। अतः उसे मारना अपने लिए हितकर होगा, इससे श्रमण गौतम की मान्यता कम हो जायेगी।

ऐसी मन्त्रणा कर उन्होंने पेशेवर हत्यारों को बुलाया। उन्हें एक सहस्र कार्षापण (स्वर्ण मुद्रा) का प्रलोभन दिया और उन्हें समझाया कि मोग्गल्लान राजगृह के समीप इसिगिल पर्वत पर कालशिला पर निवास करता है, वहां जाकर उसकी हत्या कर दो। हत्यारों को मुद्राएं दे दी गयीं, हत्यारे मोग्गल्लान की हत्या को अंजाम देने निकल पड़े। उन्होंने मोग्गल्लान के निवास स्थान को घेर लिया। मोग्गल्लान अपने योग-बल से ताले के छिद्र से बाहर निकल आये। हत्यारे मोग्गल्लान थेर का कुछ बिगाड़ नहीं पाये, वे उनको दूँड भी नहीं पाये, वे खाली हाथ लौट गए। दूसरी बार भी हत्यारों ने ऐसा ही षडयंत्र किया, परन्तु इस बार मोग्गल्लान छत फाड़कर आकाश में चले गए। हत्यारे उन्हें खोजते रहे, मारने का प्रयत्न करते रहे। इस प्रकार दो महीने बीत गए।

मोग्गल्लान थेर को प्रतिभास हुआ, उनका समय आ गया है, कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा, उन्होंने अपनी रक्षा का प्रयास त्याग दिया। हत्यारों ने उन्हें पकड़ पिटाई की, हड्डी पसली तोड़ दी, उन्हें मरा हुआ जान कर हत्यारों ने उन्हें एक झाड़ी में फेंक दिया। मोग्गल्लान ने निश्चय किया कि शास्ता को देखकर ही परिनिर्वृत होऊंगा। अतः शरीर को ध्यान वेष्ठन से वेष्ठित किया, स्थिर

किया और शास्ता के पास पहुंचे। शास्ता की वन्दना की, भगवान का अभिवादन किया और निवेदन किया, "भगवान ! परिनिर्वृत होऊंगा।" भगवान ने कहा, "परिनिर्वृत, मोग्गल्लान।" "हां भगवां।" "किस स्थान पर" "काल-शिला प्रदेश में।" भगवान ने अच्छा कह उन्हें अनुमति प्रदान की, उन्हें आदेश दिया कि भिक्खुसंघ को धम्म उपदेश देते जाओ। भिक्खुओ ने मोग्गल्लान का अन्तिम बार प्रवचन सुना, वे धन्य हो गए। मोग्गल्लान ने कालशिला पर जाकर परिनिर्वाण को प्राप्त किया।

महामोग्गल्लान के परिनिर्वाण की खबर आग की भांति चारों ओर फैल गयी। राजा अजातसत्तु को जब इसकी जानकारी हुई, तो उन्होंने हत्यारों का पता लगाया और उन्हें मृत्युदण्ड दिया। भिक्खुओं को यह बात समझ में नहीं आयी कि महामोग्गल्लान जैसे प्रवर, थेर भिक्खु की इस तरह मृत्यु कैसे हो गयी, वे उस पर खेद व्यक्त करने लगे, खिन्न हुए। भगवान ने उस समय कहा, "भिक्खुओ! तुम यह सोचते हो कि महामोग्गल्लान ने इस जीवन में बड़ा ही पवित्र जीवन जीया है। उनके साथ ऐसा नहीं होना चाहिए था।" परन्तु अपने पूर्व जन्म में महामोग्गल्लान ने अपने माता-पिता को पीट-पीट कर मार दिया था, उन्हीं कर्मों की निष्पत्ति इस जन्म में हुई है। अपने पिछले भव में, बचपन में यह अपने माता-पिता का आज्ञाकारी पुत्र था, शादी हुई, पत्नी आयी, घर में कलह होने लगा, उसके मां-बाप अन्धे थे, वह उन्हें गाड़ी में बैठाकर जंगल में ले गए और वहां पर बेरहमी से मारा। मां-बाप के पूछने पर उसने बताया कि कोई लुटेरे उन्हें मार रहे हैं। इस प्रकार उसने अन्धे मां-बाप की पीट-पीटकर हत्या कर दी थी। इसी बुरे कर्म के कारण उन्हें बहुत लम्बे समय तक निरय- गति भोगनी पड़ी, निश्चय ही जो बुरे नहीं हैं, उनके प्रति बुरा व्यवहार करना बुरे फल ही देता है। जो व्यक्ति दण्ड के अयोग्य और निरपराध व्यक्तियों के प्रति द्वेष करता है, वह शीघ्र ही इन स्थितियों में से किसी एक को प्राप्त होता है। वे हैं— 1. प्रचण्ड वेदना, 2. धन की हानि या असमय में बुढ़ापा, 3. अंग भंग, 4. भारी बीमारी, 5. पागलपन, 6. राजा से नुकसान, 7. दारुण निन्दा, 8. जाति भाइयों का विनाश अथवा 9. योगों का क्षय, उसके उरों को त्रिविध अग्नि जला देती है। वह दुर्बुद्धि शरीर नष्ट होने के बाद निरय में उत्पन्न होता है। ऐसा कहते हुए भगवान ने ये गाथाएं कहीं—

137. यो दण्डेन अदण्डेसु, अप्पदुड्डेसु दुस्सति।

दसन्नमज्जतरं ठानं, खिप्पमेव निगच्छति॥ 10.9॥

अर्थ : जो अदण्डनीय को दण्ड से पीड़ित करता है, निर्दोष को दोष लगाता है, वह शीघ्र ही इन दस बातों में से एक को प्राप्त होता है।

138. वेदनं फरुसं जानिं, सरीरस्स च भेदनं।

गरुकं वापि आबाधं, चित्तक्खेपं व पापुणे॥ 10.10॥

अर्थ : (1) कड़ी वेदना, (2) हानि, (3) अंग का भंग होना, (4) भारी रोग से ग्रसित या (5) चित्त विक्षेप (=पागलपन) को प्राप्त होता है।

139. राजतो वा उपरसगं, अभावखानं व दारुणं।

परिवर्खयं व जातीनं, भोगानं व पभंगुरं ॥ 10.11 ॥

अर्थ : (6) राजा से दण्ड को प्राप्त होता है। (7) भयानक निन्दा का पात्र बनता है। (8) जाति बन्धुओं का विनाश हो जाता है। (9) या भोगों का क्षय हो जाता है।

140. अथ वस्स अगाशानि, अग्गी उहति पावको।

कायस्स भेदा दुप्पज्जो, निरयं सो'पपज्जति ॥ 10.12 ॥

अर्थ : (या फिर) (10) उसके घर में आग लग जाती है, जिसके कारण सब कुछ स्वाहा हो जाता है। काया छोड़ने पर वह दुर्बुद्धि नरक में उत्पन्न होता है।

शब्दार्थ : अदण्डेसु = दण्ड के अयोग्य व्यक्तियों में। अप्पुहेसु = निरपराधों में। दसन्नमज्जतरं = दश स्थितियों में से किसी एक को। जानिं = हानि। गरुणं = भारी (अल्पार्थ 'क' प्रत्ययः)। आबाधं = बीमारी। चित्तवर्खयं = पागलपन। पापुणे = प्राप्त करता है। राजतो = राजा से। उपरसगं = कीर्तिक्षय। अभावखानं दारुणं = दारुण अभियोग, परिवर्खयं = नाश। पभंगुरं = क्षय। अथ वस्स = अथवा + अस्स = इसके। अगाशानि = घरों को। अग्नि = अग्नि। पावक = तीन, अर्थात् त्रिविध अर्थ लेना ही समीचीन होगा। कायस्स भेदा = शरीर नष्ट होने से। उपपज्जति = प्राप्त होता है।



वग्ग 10, गाथा 13



सन्देहयुक्त व्यक्ति की शुद्धि नहीं

(बहुभण्डिक थेर की कथा, स्थान—जेतवन)

141. सावत्थि में एक धनी सेठ था, उसके धन-धान्य की, नौकर-चाकरों की कोई कमी नहीं थी, वह आमोद-प्रमोद में जिन्दगी बसर कर रहा था। ऐसे आनन्दित जीवन में उस समय खलल पड़ गयी, जब उसकी पत्नी का देहावसान हो गया। उसको जीवन से वैराग्य हो गया। उसने एक बहुत बड़ा विहार बनाया, उसमें रसोई घर, भण्डार, बरामदे आदि सब बनाये और अपने घर का सब साजो-समान भी वहां लाकर विहार में लगा दिया। विहार में घी-दूध, दही, चावल-धान आदि भर दिये और नौकर-चाकरों के साथ वहां रहने लगा। उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली, भिक्षु बन गया।

भिक्षु बन जाने के बाद भी उसके रहने के ठाट-बाट पूर्ण आराम और शानो-शोकत के थे। वह अपने नौकरों से कहकर अपने मन-पसन्द का स्वादिष्ट भोजन बनवाता था, पकवान बनवाता था और आराम से विचरण करता था। उसके पास बहुत सी वस्तुएं थीं। इसलिए उसे बहुभण्डिक भिक्षु के नाम से पुकारते थे।

एक दिन दूसरे भिक्षु उसको भगवान के पास ले गए और उसके सामने भगवान को बताया कि एक भिक्षु होते हुए भी यह बहुत सा सामान अपने साथ लेकर आया है और उसके साथ रहता है, आरामदेह जीवन बिताता है। भगवान ने कहा, "बहुभण्डरिके ! बुद्ध भिक्षुओं को त्याग की जिन्दगी जीने का उपदेश देते हैं, तुम अपने साथ इतनी वस्तुएं क्यों लाये हो ?" इस बात पर

बहुभाण्डक आग बबूला हो गया, गुस्से में तमतमा कर कहने लगा, "आप चाहते हैं कि मैं आपकी इच्छानुसार जीऊँ।" ऐसा कहते हुए उसने पहने हुए सभी चीवर फेंक दिए।

उसकी इस हरकत को देखकर भगवान बोले, "अरे, भाण्डरिक दुर्गति में पड़े हुए भी तुमने शर्म और बुराई के डर को नहीं फेंका, अब तो तुम भिक्खु हो, तुम शर्म की संवेदना को कैसे फेंक रहे हो, उसे बुराई के भय के बिना कैसे फेंक रहे हो।" भिक्खु के कानों में भगवान की बात पड़ी, उसे समझ में आया वह भगवान के कदमों में गिर गया, अनुनय-विनती की, माफी मांगी। भगवान ने कहा, "बिना चीवर ओढ़े वहां खड़ा रहना शोभा नहीं देता है, चीवर आदि को फेंक देने से कोई भिक्खु नहीं रह जाता है, तुम्हें अपने अन्दर के सन्देह को, शंका को बाहर फेंकना चाहिए। जिस मनुष्य की आकांक्षाएं नहीं बुझी हैं, ऐसे व्यक्ति को न तो नंगा रहना, न जटाएँ, न शरीर पर कीचड़ या भभूत लपेटना, न व्रत-उपवास या कठोर भूमि पर शयन, न जलीय रज और न उत्तानशयन या उकड़ू बैठना आदि ही शुद्ध कर सकते हैं। अपनी आकांक्षाओं को, तृष्णाओं को फेंको, उनको दूर करो। तृष्णाओं के रहते हुए शंकाओं के रहते हुए, अगर तुम यह सब करते हो, तो व्यर्थ है। मन का मैल धुले बगैर ये धारण कृत्य व्यक्ति को शुद्ध नहीं बना सकते हैं।" उस समय भगवान ने यह गाथा कही—

141. न नग्गचरिया न जटा न पंका नानासका थण्डिलसायिका या।

रजोचजल्लं उक्कुटिकप्पधानं सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकंखं॥ 10.13॥

अर्थ : जिस पुरुष के संदेह समाप्त नहीं हुए हैं, उसकी शुद्धि न नंगे रहने से, न जटा रखने से, न कीचड़ (लपेटने) से, न उपवास करने से, न कड़ी भूमि पर सोने से, न धूल लपेटने से और न उकड़ू बैठने से ही होती है।

शब्दार्थ : नग्गचरिया = नग्न रहना। पंका = कीचड़। नानासका = नु+अनशन्। थण्डिलसायिका = कड़ी भूमि पर शयन। रजो च जल्लं = जलीय रज। उक्कुटिकप्पधानं = उत्तानशयन। प्पधानं = अभ्यास। सोधेन्ति = शुद्ध करते हैं। मच्चं = मर्त्य को। अवितिण्णकंखं = जिसकी आकांक्षाएँ समाप्त नहीं हुई अर्थात् साकांक्ष।

वग्ग 10, गाथा 14

अलंकृत रहते हुए भी भिक्खु है

(सन्तति महामात्य की कथा, स्थान—जेतवन)

142. राजा पसेनदि के 'सन्तति' नाम का एक महामन्त्री था, महामत्त था। एक बार एक सीमा पर विद्रोह हुआ। राजा पसेनदि ने महामन्त्री को उस विद्रोह को शान्त करने हेतु भेजा। सन्तति अपने पूरे दल-बल के साथ वहां गया और उस विद्रोह को शान्त करके वापस राज-दरबार में आ गया। राजा पसेनदि उससे बहुत प्रसन्न हुआ और उसको विपुल सम्पदा, नौकर-चाकरों और नर्तकियों से सम्मानित किया।

महामत्त आमोद-प्रमोद में खो गया, एक नृतकी ने उसको अपनी कला से सात दिन तक रत

रखा, वह मदहोश होने लगा और मदहोश रहने लगा। ऐसे ही एक बार वह नशे की हालत में शाही हाथी पर सवार होकर नदी के किनारे स्नान करने गया। भगवान बुद्ध उसी रास्ते से भिक्खाटन हेतु जा रहे थे, सन्तति ने झुककर भगवान को आदर प्रदर्शित किया। भगवान मुस्कुराये। आनन्द उनके साथ चल रहे थे। आनन्द ने भगवान की मुस्कराहट देखी, उसने कारण जानना चाहा। भगवान ने कहा, "आनन्द! यह महामन्त्री आज ही मुझसे मिलने आयेगा, और मैं इसे धम्म प्रवचन दूंगा, जिसको सुनकर यह अर्हत्त्व को प्राप्त होगा और परिनिर्वाण प्राप्त करेगा।"

उधर सन्तति ने अपने मित्रों, नौकर-चाकरों के साथ नदी में स्नान किया, स्नान-पान किया, मौज-मस्ती की और वापस अपने महल चले गए। शाम को वह अपनी वाटिका में आयोजित समारोह में गया, वहां खूब नशा किया और नृत्यांगना की नृत्यकला पर झूमने लगा। नर्तकी अपने शरीर-सौष्ठव का ध्यान रखते हुए संयमित आहार ग्रहण करती थी, वह काफी समय से नृत्य क्रिया में रत थी। अस्तु, उसे चक्कर आ गया और बेहोश होकर भूमि पर गिर गयी। गिरते ही वह मर गयी। उसकी स्फुरित आंखें और खुला मुंह देखकर मन्त्री को बड़ा सदमा पहुंचा, उसे भयंकर हृदयाघात लगा। उसे संसार का सौन्दर्य काफूर होते हुए नजर आया, जीवन की क्षण-भंगुरता दिखने लगी, वह शोक-सन्तप्त हो गया। उसे भगवान की याद आने लगी।

वह शोक विह्वल भगवान बुद्ध के पास गया और अपनी नृत्यांगना की मृत्यु पर हुए सन्ताप और खेद का वृत्तान्त सुनाते हुए कहा, "भगवान ! मेरी मदद करें !.....मुझे इन दुखों से उभारें !..... मन की शान्ति का कुछ उपाय करें ! अपनी शरण में लें....."। भगवान संयत थे, उसकी बातें सुनने के उपरांत बोले, "सन्तति ! घबराओ मत ! तुम ऐसे आश्रय में आ गए हो, जहां तुम्हारे दुखों की निवृत्ति ही है। "आंसू मत बहाओ। जितने आसूँ तुमने अपनी तृष्णा के वशीभूत होकर बहाये हैं, उन पर विजय पाओ, ये उपादान ही दुखों के हेतु हैं। भविष्य में ऐसे उपादानों को आश्रय मत देना।" उत्पन्न मत होने देना, वर्तमान में भी उपादानों के इस सागर में अपने को मत बहाओ। जब सब तरह की तृष्णा शान्त हो जायेगी, आसक्ति मिट जायेगी, अपनापन, अपनत्व और आत्म (स्व) का चिपकाव मिट जोयगा, तुम निर्वाण का अनुभव करोगे, अमृत को प्राप्त करोगे।" भगवान इस तरह से उसे धर्म समझा रहे थे। वह अर्हत्त्व को प्राप्त कर गया। उसे अभिज्ञात हुआ कि उसकी जिन्दगी का अब समय नजदीक ही है। अस्तु, वह तथागत से बोला, "भगवान ! मुझे परिनिर्वृत्ति मिले ! मेरा समय आ चुका है।" भगवान ने उस पर अपनी कृपादृष्टि डाली। सन्तति ध्यान मग्न हो गया, तेज कसिन में ध्यानरत सन्तति का परिनिर्वाण हुआ।

भिक्खुओं ने भगवान से जानना चाहा, " भगवान ! सन्तति ब्राह्मण है या श्रमण।" तथागत बोले, "भिक्खुओ ! बोधिपथ पर चलने वाले पुरुष को ब्राह्मण और श्रमण दोनों प्रकार से कहकर पुकारते हैं।" भगवान जेतवन में थे, वे आगे बोले, "जो मनुष्य ऐश्वर्य सम्पन्न होते हुए भी सभी प्राणियों के प्रति दण्ड का परित्याग करके शान्तिपूर्वक विचरण करता है, जो शान्त जितेन्द्रिय, समथ और ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला है, वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है, वही भिक्खु है।" भगवान ने यह गाथा कही—

142. अलंकृतो चेपि समं चरेय्य, सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं, सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खू।। 10.14।।

अर्थ : अलंकृत रहते हुए भी यदि वह शान्त, दान्त, नियम ब्रह्मचारी तथा सारे प्राणियों के प्रति दण्ड-त्यागी है, तो वही ब्रह्मण है, वही श्रमण है, वही भिक्खु है।

शब्दार्थ : समं = शुभ भाव। निधाय = परित्याग करके।

वग्ग 10, गाथा 15-16

दुख को पार करो

(पिलोतिक थेर की कथा, स्थान—जेतवन)

143-144 एक बार थेर आनन्द ने दीन-हीन अवस्था में एक बालक को देखा, उसने फटे-पुराने मलिन वस्त्र पहन रखे थे और हाथ में कटोरा लिए हुए भीख मांगता फिर रहा था। आनन्द को उस पर दया आ गयी, वे उसे अपने साथ ले आए और उसे सामनेर बना लिया। अब वह सामनेर बन गया था। उसने अपने पुराने कपड़े और भीख मांगने का कटोरा एक पेड़ पर रख दिये। भिक्खु बनने के बाद सभी लोग उसे 'पिलोतिक' के नाम से जानने लगे। अब पिलोतिक को न तो भोजन की चिन्ता थी और न कपड़ों की। उसकी परिस्थिति बदल चुकी थी, वह बदल चुका था, फिर भी कभी-कभी वह सामनेर की इस जीवनचर्या से ऊब जाता और उसका मन करता कि वापस भाग जाय, घर संसार में चला जाय, भिक्खु जीवन त्याग दे।

जब भी उसके मन में ऐसे विचार आते, ऐसी भावना आती, वह भागता हुआ उस पेड़ के पास जाता और अपने भीख के कटोरे को देखता, अपने पुराने कपड़ों को देखता और अपने से ही प्रश्न करता, "अरे, बेशर्म ! तुम ऐसी जगह को छोड़ना चाहते हो, जहां तुम्हें पर्याप्त भोजन और पर्याप्त वस्त्र मिलते हैं ! अरे, तुम वापस ये ही मैले-कुचैले कपड़े पहनना चाहते हो और भीख मांगना चाहते हो ? ऐसे विचारों से उसमें फिर नई प्रेरणा जगती और वह वापस विहार में आ जाता। एक-दो-दिन निकालता, उसके मन में फिर वही विचार उमड़ते, वह फिर पेड़ तक जाता और फिर वही प्रश्न दोहराता, मन्थन करता और वापस चला जाता।

उसे बार-बार ऐसा करता देख अन्य भिक्खु उससे पूछते—अरे ! पिलोतिक ! तुम उस पेड़ के बार-बार चक्कर क्यों लगाते हो, जहां तुम्हारे पुराने वस्त्र और भीख का कटोरा पड़ा है ?" वह उत्तर देता, "वह तो वहां पर अपने गुरु से मिलने जाता है।" इस प्रकार पिलोतिक का भिक्खु-जीवन व्यतीत होने लगा, वह भिक्खु बना, ध्यान-प्रवीण हुआ उसने अपनी पुरानी दयनीय स्थिति, पुराने कपड़ों और भीख के पात्र का अभिसंधान कर साधना की। उसे स्कन्धों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हुआ, अनित्यता, अनात्मता व दुखता को जाना तो वह अर्हत बन गया।

अब उसने उस पेड़ की ओर जाना छोड़ दिया व ध्यान-मग्न रहने लगा, अपने आप में ही आनन्दित रहने लगा, अन्य भिक्खु उसको पूछते, "अरे, पिलोतिक ! अब तो तुम अपने गुरु के पास नहीं जाते ?" उसने बताया, "मुझे जब जरूरत थी, आवश्यकता थी, मैं वहां जाता था, लेकिन वहां अब ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है, कोई कारण नहीं रह गया है, अतः अब मैं नहीं जाता हूँ।"

भिक्षु भगवान के पास गए, पिलोतिक भी वहीं था। वे भगवान से बोले, " पूज्य, भगवां! पिलोतिक ऐसी बातें करता है, मानो उसे अर्हत्त्व प्राप्त हो गया है, यह असत्य भाषण करता है।" भगवान ने भिक्षुओं को ऐसा कहने से रोका और बोले, "भिक्षुओ ! पिलोतिक झूठ नहीं बोल रहा है, वह सत्य भाषण कर रहा है।" हालांकि इसका सम्बंध पहले अपने गुरु से था, अब वह सम्बंध नहीं रहा है, थेर पिलोतिक ने अपने को सही और गलत के हेतुओं से विवेकित कर दिया है। उसने वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। अब यह अर्हत बन चुका है। इसलिए अब उसके एवं इसके गुरु के बीच कोई सम्बंध नहीं रहा है। संसार में लज्जा से विरुद्ध कोई भी लज्जावान व्यक्ति निन्दा को सहन नहीं करता है। जैसे कि कोई अच्छा घोड़ा कोड़े को सहन नहीं करता है। दुनिया में ऐसे घोड़े भी हैं, जिसे तुम पीटते रहो, चाबुक मारते रहो, मारते रहो, परन्तु वे संयत नहीं होते हैं, उनमें लज्जा नाम की कोई चीज नहीं है, दूसरे ऐसे भी अश्व हैं, जिन्हें चाबुक मारने पर थोड़े इधर-उधर होते हैं, उनमें थोड़ी बहुत हया है। तीसरे प्रकार के घोड़े को प्रहार की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है, वह चाबुक की आवाज मात्र से ही अपने को संयत कर लेता है, और ऐसे घोड़े भी है, जो चाबुक की छाया मात्र से समझ जाते हैं और अपने को संयत कर लेते हैं। इसी प्रकार मनुष्यों में भी ही (हया) का स्वभाव होता है। स्वयं की अपेक्षा करते हुए स्व-गौरव और धर्म-गौरव की भावना से पाप कर्म करने में लज्जा की अनुभूति हमारे मन का संकोच है। यह दुष्चरित का संयमन करता है, जिस प्रकार कोड़ा खाया हुआ घोड़ा अच्छा हो जाता है, उसी प्रकार पश्चाताप करने वाले और संवेगवान बनो। तुम श्रद्धा, सदाचार, शक्ति, समाधि तथा धर्म निश्चय से युक्त बनकर विद्या और आवाज से समन्वित हुए, पूर्णतया स्मृतिवान, हो कर ही इस महान दुख को पार कर सकोगे। भगवान ने उस समय ये गाथा कही—

143. हिरीनिसेधो पुरिसो, कोचि लोकस्मिं विज्जति।

यो निन्दं अप्पबोधति, अस्सो भद्रो कसामिव ॥ 10.15॥

अर्थ : लोक में कोई पुरुष (ऐसा) होता है, जो अपनी ही लज्जा के कारण अकुशल (कर्म) को नहीं करता, जैसे उत्तम घोड़ा कोड़े को नहीं सह सकता, वैसे ही वह (पुरुष) निन्दा को नहीं सह सकता।

144. अस्सो यथा भद्रो कसानिविद्धो, आतापिनो संवेगिनो भवाथ।

सद्धाय सीलेन च विरियेन च, समाधिना धम्मविनिच्छयेन च॥

सम्पन्नविज्जाचरणा पतिस्सता, पहस्सथ दुक्खमिदं अनप्पकं॥ 10.16॥

अर्थ : कोड़े पड़े उत्तम घोड़े की भांति, उद्योगी, संवेगवान् हो, श्रद्धा, आचार, वीर्य (=प्रयत्न)। समाधि और धर्म के विनिश्चय से युक्त बन, विद्या और आचरण से समन्वित हो, स्मृतिवान हो इस महान दुख को पार कर सकोगे।

शब्दार्थ : हिरीनिसेधो = लज्जा से अवरुद्ध अर्थात् सलज्ज। अप्पबोधति = नहीं सहन करता है। आतापिनो = पश्चाताप करने वाले। भवाथ = हो। सद्धाय = श्रद्धा से। धम्मविनिच्छयेन = धर्म के निश्चय से। सम्पन्नविज्जाचरणा = विद्या और आचरण से समन्वित। पतिस्सता = स्मृतिवान्। पहस्सथ = पार करोगे।

सुव्रती अपना दमन करते हैं

(सुख सामनेर की कथा, स्थान—जेतवन)

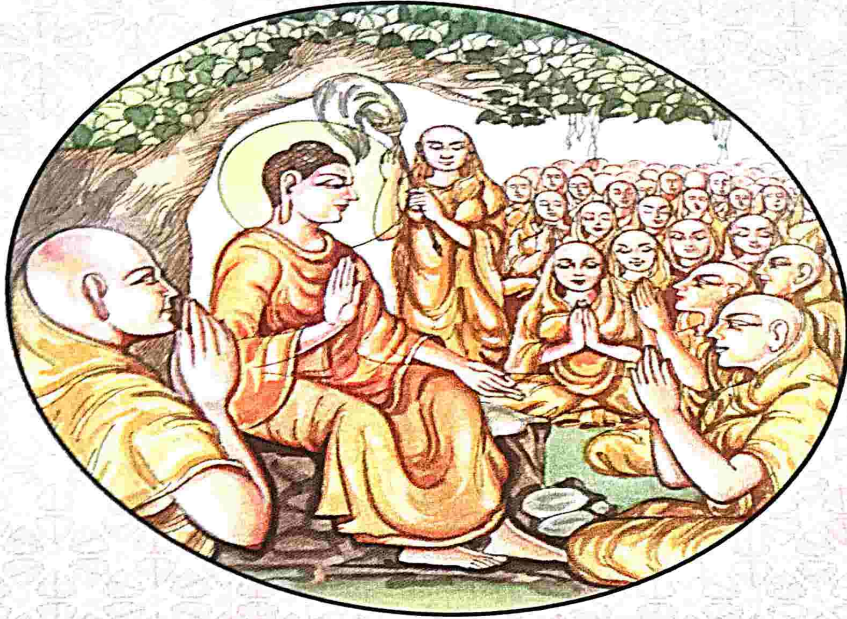
145. एक बार थेर सारिपुत्त ने सुख नामक एक सात वर्षीय बालक को श्रामणेर बनाया। वह सारिपुत्त का सामनेर बना, उनके साथ ही रहता था, उनका अनुगमन करता था। सामनेर बने हुए उसे सात दिन बीत चुके थे, आठवें दिन जब सारिपुत्त भिक्षुाचार हेतु निकले वह सामनेर भी उनके पीछे-पीछे हो लिया। वे खेतों से निकले, नगर की गलियों से निकले, हर बाजार से निकले। सामनेर ने रास्ते में देखा कि किसान अपने खेतों में क्यारियां बना कर पानी की दिशा को मोड़ रहे हैं। वे जिधर पानी ले जाना चाहते हैं, नाली का रुख उधर कर रहे हैं, और पानी उधर ही प्रवाहमान हो जाता है। उसने बाण बनाने वाले को देखा, वे बेंत को अपनी इच्छानुसार मोड़ कर बाण बना रहे हैं, उसने बढ़इयों को देखा, वे कठोर लकड़ी को तराश कर रथ, चक्र आदि में परिवर्तित कर रहे हैं। उसके मन में कोतूहल हुआ, उसने सारिपुत्त को पूछा, “पूज्य, भन्ते ! क्या व्यक्ति अपनी मर्जी से इन वस्तुओं को रूप दे सकता है।” सारिपुत्त का जवाब था, “अवश्य।”

सामनेर विहार में वापस आया, अपनी कुटी में समाधिस्थ हो गया। सभी ने उसका हर तरह से ध्यान रखा, सारिपुत्त दरवाजे पर खड़े रहते, ताकि कोई अन्दर आते-जाते उसके ध्यान को भंग न कर दे। प्रवृत्ति ने अपने आप को शान्त और नीरव रखकर उसका देवतुल्य साथ दिया। सामनेर को अन्तर्दृष्टि मिल गयी। आठवें दिन सामनेर अर्हत्त बन गया। इस घटना पर भगवान भिक्षुओं को जेतवन विहार में धर्म-प्रविचय करते हुए बताते हैं, “भिक्षुओ ! जब कोई मग्न होकर, तन्मयता से, तल्लीनता से, पूर्ण मनोयोग से धम्म का पालन करता है, तो देव और मनुष्य सब उसकी सहायता करते हैं, सुख को व्यवधान नहीं हो, इसलिए मैंने सारिपुत्त को निदेश दिया कि वह उसके द्वार पर ध्यान रखे।” सामनेर सुख ने किसानों को मेड़ बनाते हुए देख कर, बाण बनाते हुए देख कर और बढ़इयों को रथ आदि बनाते देखकर अपने मन को ध्यानस्थ किया और धम्म में स्थित हो गया और कुछ ही समय में वह अर्हत्त बन गया। पानी ले जाने वाली नहरों का निर्माण करके, नाली का निर्माण करके अपनी इच्छानुसार पानी ले जाते हैं, बाण बनाने वाले बेंत को यथेच्छ मोड़ते हैं, बाण बनाते हैं, बढ़ई लकड़ी को मोड़ देते हैं, इसी प्रकार अच्छी प्रतिज्ञा वाले पुरुष अपने को ही मोड़ कर सुसंयत कर लेते हैं, दमन कर लेते हैं। भगवान ने इस बात को आधार में रखकर यह गाथा कही—

145. उदकं हि नयन्ति नेत्तिका, उसुकारा नमयन्ति तेजनं।

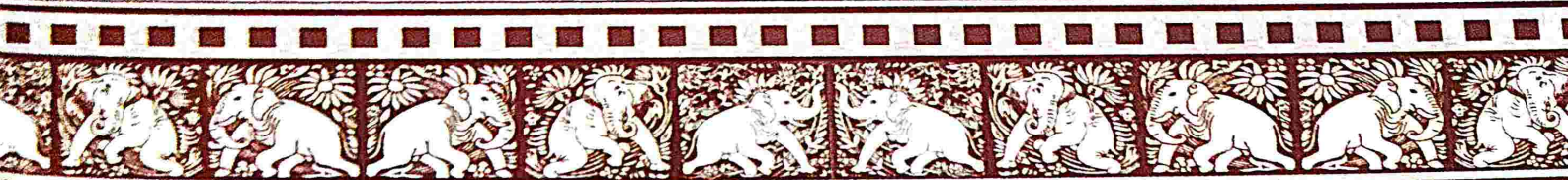
दारुं नमयन्ति तच्छका, अत्तानं दमयन्ति सुब्बता॥ 10.17॥

अर्थ : पानी ले जाने वाले (इच्छानुसार) पानी ले जाते हैं, बाण बनाने वाले बेंत को यथेच्छ मोड़ते हैं, बढ़ई लकड़ी को मोड़ देते हैं, उसी तरह अच्छे (सुब्बता) लोग अपने दमन में लगे रहते हैं।



जरा वयो

THE OLDAGE.





को नु हासो किमानन्दो, निष्चं पज्जलिते सति ।
अन्धकारेन ओनद्धा, पदीपं न गवेसया ॥

अर्थ : जब नित्य जल रहा है, तो हंसी कैसी? आनन्द कैसा? अन्धकार से घिरे
प्रदीप की (तुम) खोज क्यों नहीं करते?

होते होते अन्ततोगत्वा हम विनाश के कगार पर पहुंच जाते हैं। यह जड़ता जीवन का एक आवश्यक लक्षण है। बौद्ध धर्म में यह जड़ता जीवन की अन्तिम अवस्था मात्र ही नहीं, अपितु जीवन का सहजात धर्म भी बताया गया है।

सिरिमा जैसी अनिच्छा रूप सुन्दरी हो या मल्लिका जैसी महारानी, अपने रूप लावण्य में डूबी रूप नन्दा हो या अन्य कोई, जरा की इस मार से कोई बच नहीं पाया है। अस्तु, बुद्धिमानी इसी में है कि जीवन के इस आवश्यक सहजात धर्म को हम जानें। इस जगत् में वृद्धि होती हुई दिखती है, मांस-मज्जा बढ़ते हुए दिखाई पड़ते हैं, परन्तु प्रज्ञा को तो सदाचार एवं आर्य आष्टांगिक मार्ग के माध्यम से ही बढ़ा सकते हैं। प्रज्ञाहीन अल्पज्ञ का भी शरीर तो बढ़ता ही है, परन्तु वह ज्ञान को नहीं बढ़ा पाता है, ऐसे में उसके मांसल शरीर का बढ़ना किस लाभ का ?

इस वर्ग की सभी गाथाएं तथागत के 'अनित्य दर्शन' 'अनात्मानुभूति' और दुख के बेजोड़ सिद्धान्तों से हमें रू-ब-रू कराती हैं। इस वर्ग में समाहित 11 गाथाएं जेतवन, वेणुवन और इसिपतन (ऋषिपतन-सारनाथ) के साथ-साथ उस बोधिवृक्ष के मूल से भी संदर्भित हैं, जहां तथागत सम्यक्सम्बुद्ध ने बुद्धत्व का लाभ प्राप्त किया था और वे बोल उठे थे, 'अरे ! घर बनाने वाले मैंने तुझे देख लिया है, अब तू दुबारा घर नहीं बना सकेगा। तेरी नींव एवं कंगूरे सभी टूट चुके हैं, सभी कड़ियां टूट चुकी हैं।' तथागत निर्वाण प्राप्त कर वहां से लोकानुकम्पाय धम्मचक्र पवत्तनाय विहरने को उद्यत हुए थे। इस वर्ग में 6 गाथाएं जेतवन, 2 गाथाएं इसिपतन, 2 गाथाएं बोधिरुक्खमूल एवं एक वेणुवन राजगृह में कही गयी हैं। रूप सौन्दर्य की देवियां विशाखा, सिरिमा, रूपनन्दा आदि को संदर्भित एवं संबोधित ये गाथाएं, अधिमान भिक्खु व अल्पज्ञ लालउदायी थेर की कथाएं भी अपने कलेवर में समेटे हुए हैं। रूप, सौन्दर्य, शरीर-सौष्ठव व वय एवं वरीयता के सन्दर्भ में उपदिष्ट ये गाथाएं एवं कथाएं बौद्ध धर्म के 'सम्यक स्मृति' के सोपान की सफल सीढ़ियां हैं।

11. जरा वग्गो

2. गाथाएं

वग्ग 11, गाथा 1

हंसी और आनन्द कैसा ?

(विशाखा की सहायिकाओं की कथा, स्थान—जेतवन)

146. सावत्थि में कोई पांच सौ व्यक्ति थे, जो ये चाहते थे कि उनकी पत्नियां सदाचारी बनें, धर्म प्रवीण बनें। अपनी इस चाहत को अंजाम देने के लिए उन्होंने अपनी पत्नियों, औरतों को विशाखा की निगरानी में भेज दिया। औरतों को कहा गया कि वे विशाखा से कुछ सीखें, सदाचारी बनें, दयावान बनें। एक समय नगर में उत्सव था, उत्सव में उन्होंने मादक पदार्थों का सेवन किया, कुछ बाकी बच गया था। सबके पति जा चुके थे, भला पत्नियां कहां पीछे रहने वाली थीं, वे भी घर में रखे मादक द्रव्य को पी गईं, मदहोश हो गयीं। पति वापस आए, उन्हें पता लगा, उन्होंने अपनी औरतों की पिटाई की।

एक दूसरे अवसर पर वे औरतें विशाखा के साथ भगवान के विहार में धम्म-श्रवण का लाभ उठाने का बहाना बनाकर गईं और अपने साथ कपड़ों में छुपाकर मादक पदार्थ भी ले गयीं। वहां पर उन सबने उसका सेवन किया और मदहोश हो गईं, प्रमत्त हो गईं। नशे में उनका रोम-रोम झंकृत हो गया, होश उड़ गए, वे नाचने लगीं, गाने लगीं और उधम करने लगीं। मार को मौका मिला। उसने उन्मुक्त होकर उन पर कृपा की। औरतें नंग-धड़ंग उछलने-कूदने लगीं, खिलखिलाने लगीं। उनकी सारी लज्जा, हया और अपत्रपता मार की चकाचौंध में गुम हो चुकी थी।

भगवान ने अपनी दिव्यदृष्टि से इसे देखा और विचार किया। मार को ऐसा अवसर नहीं दिया जाना चाहिये, अस्तु वहां अन्धेरा हो गया। चकाचौंध जाती रही, औरतों को अन्धेरे में भय होने लगा तो वे सुबकियां भरने लगीं। भगवान उनके अन्तर्ध्यान में आए, कहने लगे, "इस प्रकार विक्षिप्त मन से, कुत्सित मन से विहार में नहीं आना चाहिये, तुम्हारी लापरवाही से मार को तुम्हें वेशर्म बनाने का मौका मिल गया, हंसी-ठिठोली और जोर-जोर से नाचने-गाने हेतु तुम्हें प्रमत्त कर दिया। तुम्हारे अन्दर जो राग की आग जल रही है, उसे बुझाओ। यह सारा संसार अग्नि में धधक रहा है, जल रहा है, इसमें आनन्द की क्या बात है, हंसने की क्या बात है ? इस अन्धेरे में बैठे आप अपना दीपक क्यों नहीं जला लेती हो। सारी वस्तुएं प्रदीप्त हैं, हमारे नेत्र, हमारी दृष्टि की संवेदना, दृष्टि का ज्ञान, देखना-करना सब कुछ दहक रहा है। उपादान स्कन्धों से दहकती आग की लपटें निकल रही हैं। इस आग को बुझाने का यन्त्र कोई बाहर से ईजाद नहीं किया जा सकता है। गूंगे बोल नहीं सकते हैं, इसका मतलब यह नहीं है कि उनके अन्दर की यह आग शान्त है, वे भी इसी तरह से जल रहे हैं। अगर मौन रहने में ही नहीं, बोलने से ही यह आग बुझ गई होती तो मूक प्राणियों की यह स्थिति नहीं होती, वे सन्त हो गए होते। कोई भी कर्म काण्ड-यज्ञ-हवन भी इस जलती आग को शान्त नहीं कर सकता है चाहे आप गऊ-व्रत रखो या गधा-व्रत। जीवन को तप में तपाना और आत्माहुति और आत्महत्या भी तो इच्छा की पहुंच में है, जो इस आग की प्रज्ज्वल ही है। जीवन को जीओ, अच्छे तरीके अपनाओ, अच्छा व्यवहार करो, सदाचार का पालन करो, विवेकपूर्ण जीवन ही इस आग को शान्त कर सकता है।"

"इस नित्य जलती आग से बाहर निकलो। जब यह आग नित्य ही जल रही है, हमेशा हम उसमें जल रहे हैं, तो यह हंसी कैसी और यह आनन्द कैसा ? यह हंसी क्या है और आनन्द क्या है ? अन्धकार में ढके हुए तुम लोग अपना दीपक क्यों नहीं ढूँढते हो ?" इस प्रकार भगवान उनको प्रवचन देने लगे और यह गाथा कही—

146. कोनु हासो किमानन्दो, निच्चं पज्जलिते सति।

अन्धकारेन ओनद्धा, पदीपं न गवेसथा।। 11.1।।

अर्थ : जब नित्य जल रहा है, तो हंसी कैसी ? आनन्द कैसा ? अन्धकार से घिरे प्रदीप की (तुम) खोज क्यों नहीं करते ?

शब्दार्थ : पज्जलिते सति = जलते रहने पर। ओनद्धा = ढके हुये। पदीपं = दीपक।



वग्ग 11, गाथा 2



अनित्य शरीर को देखो

(सिरिमा की कथा, स्थान—राजगृह, वेणुवन)

147. राजगृह में सिरिमा नाम की एक बहुत ही सुन्दर गणिका रहती थी, उसकी एक झलक पाते ही लोग उस पर न्यौछावर हो जाते थे और अपना सब कुछ देकर भी उसकी प्रीति पाने

को आतुर हो उठते थे। भिक्षु लोग द्वार-द्वार पर भिक्षाटन हेतु जाते थे, वे प्रत्येक घर से भिक्षा ग्रहण करते थे। उनके लिए कोई ऊँचा या नीचा नहीं था। वे राजा और रंक दोनों के यहां से भिक्षा प्राप्त करते थे। रास्ते में सिरिमा की कोठी पड़ती थी, वह भी उन्हें भिक्षा देती थी। वह सुन्दर तो थी ही, उसके द्वारा भिक्षा में दिये गए व्यंजन भी इतने ही स्वादिष्ट और लजीज़ होते थे।

एक बार ये भिक्षु आपस में बात कर रहे थे, दूसरे भिक्षुओं को बता रहे थे कि सिरिमा कितनी सुन्दर है और उसके यहां का भोजन कितना सुस्वादु व स्वादिष्ट है, तो वहां खड़े एक तरुण भिक्षु में आसक्ति का संचरण हो गया, सिरिमा को बिना देखे ही वह उस पर आसक्त हो गया। दूसरे दिन वह जवान भिक्षु उन भिक्षुओं के साथ सिरिमा के घर भिक्षाटन हेतु गया। सिरिमा उस समय अस्वस्थ थी, फिर भी वह दरवाजे तक आती है और भिक्षुओं को आदर सहित भिक्षा देती है। तरुण भिक्षु उसको देखकर मोहित हो जाता है और सोचता है कि यह अस्वस्थ होने के बावजूद भी सौन्दर्य की अनिष्ट प्रतिमूर्ति है। स्वस्थ होने पर तो और अधिक खिल जाती होगी, बेहद सुन्दर तो है ही, वह उसको चाहने लगता है।

उसी रात को सिरिमा मर जाती है। राजा बिम्बिसार को इसकी जानकारी मिलती है, भगवान बुद्ध को भी ज्ञात होता है। भगवान बिम्बिसार को कहते हैं कि इसे श्मशान में ले जाइये और तीन दिन तक दाह कर्म मत कीजियेगा, बस कुत्तों और कौवों आदि पशु और पक्षियों से इसे बचाकर रखियेगा। भगवान के निदेशानुसार बिम्बिसार व्यवस्था कर देते हैं। चौथे दिन का सूर्योदय होता है, सिरिमा का मृत शरीर अब इतना सुन्दर नहीं रह जाता है, वह विकृत हो जाता है, उसके नौ द्वारों से गन्ध और राध बहने लगती है। भगवान अपने भिक्षुसंघ को लेकर सिरिमा को देखने हेतु प्रस्थान करते हैं। तरुण युवक को यह जानकारी नहीं होती है कि सिरिमा मर चुकी है, उसे मालूम होता है कि भगवान सिरिमा को देखने जा रहे हैं, तो वह भी उनके साथ हो लेता है। भगवान श्मशान में भिक्षुसंघ सहित पहुंचते हैं, वह भिक्षु भी उनके साथ होता है और राजा बिम्बिसार और उनके आदमी भी वहां होते हैं। सभी सिरिमा की मृत देह को घेर कर खड़े हो जाते हैं।

भगवान राजा बिम्बिसार से कहते हैं, “राजन ! शहर में घोषणा कराओ कि सिरिमा एक हजार मुद्राओं पर एक रात के लिए उपलब्ध है।” वैसा ही किया गया, परन्तु सिरिमा का कोई भी कद्रदान नहीं मिला। पांच सौ की बोली लगाकर घोषणा करवायी गयी, कोई आगे आया नहीं। इस प्रकार अढ़ाई सौ, एक सौ और मुफ्त में दिये जाने की भी घोषणा करवायी गयी, परन्तु किसी ने भी इसमें अपनी रुचि नहीं दिखायी, कोई उस मृत शरीर को पाने वाला कद्रदान नहीं मिला।

तब भगवान ने कहा, “भिक्षुओ ! इस सिरिमा को देखो ! जब यह जीवित थी, बहुत से लोग हजारों काषार्पण देकर उसके साथ एक रात्रि व्यतीत करना चाहते थे, लेकिन आज उसी सिरिमा को कोई मुफ्त में भी लेने को तैयार नहीं है। यह हमारे शरीर का धर्म है कि इसका विनाश

अवश्यम्भावी है। यह कभी भी एकसा नहीं रहता है, इसमें क्षय है, विनाश है। अनेक प्रकार से सजाये हुए इस शरीर को देखो, जो घावों से भरा पड़ा है। मांस, वस्सा, मज्जा, आदि से फूला हुआ है। अनेक दुखों से पीड़ित और अनेक संकल्पों वाले इस शरीर को देखो, जिसकी स्थिति स्थायी नहीं है, यह अनित्य है।” उन्होंने ऐसा प्रवचन देते हुए यह गाथा कही—

147. पस्स चित्त कतं बिम्बं, अरुकायं समुस्सितं।

आतुरं बहुसंकप्पं यस्स, नत्थि धुवं ठित्ति॥ 11.2 ॥

अर्थ : इस चित्रित शरीर को देखो, जो व्रणों से युक्त, फूला हुआ, पीड़ित तथा अनेक संकल्पों से युक्त है, जिसकी स्थिति अनित्य है।

शब्दार्थ : पस्स = देखो। चित्त कतं = सजाये हुये (वत्थाभारणमालालत्तकादीही विचितं—बुद्धघोसः)। बिम्बं = शरीर। अरुकायं = अरु = घाव से युक्त शरीर को। समुस्सितं = फूला हुआ। बहुसंकप्पं = अनेक संकल्पों वाले। ठित्ति = स्थिति।



वग्ग 11, गाथा 3



शरीर रोगों का घर है

(उत्तरा थेरी की कथा, स्थान—जेतवन)

148. भगवान के भिक्खुणीसंघ में उत्तरा प्रमुख थी। वह जीवन-पर्यन्त भिक्खाटन हेतु भिक्खु-भिक्खुणियों के निमित्त भिक्खाटन हेतु बनाये गए विनय के नियमों का पालन करती रही। बौद्ध साहित्य में वर्णन है कि वह एक सौ पच्चीस वर्ष की हुई, तब भी वह स्वयं भिक्खाटन करती थी, द्वार-द्वार जाती थी, विनय का पालन करती थी। एक दिन भिक्खुणी उत्तरा भिक्खाटन करके वापस विहार को जा रही थी। उसके हाथ में भिक्खापात्र था, सामग्री से भरा था, रास्ते में उसे एक भिक्खु मिला। थेरी उत्तरा ने अपना भोजन उसे देने की इजाजत मांगी, भिक्खु ने स्वीकृति दे दी। थेरी उत्तरा ने अपने भिक्खापात्र को भिक्खु के पात्र में उलट दिया, पूरा भोजन भिक्खु के पात्र में था। उत्तरा थेरी के लिए कुछ भी नहीं बचा था। दूसरे और तीसरे दिन भी वही भिक्खु मिला, उसी जगह पर मिला। प्रत्येक बार उत्तरा थेरी ने वैसा ही किया।

चौथे दिन वह भिक्खाटन से वापस आ रही थी, भगवान बुद्ध उनको मार्ग में मिले, शहर में भीड़ बहुत थी। भगवान को रास्ता देकर आदर प्रकट करना विनय का नियम था, भिक्खुणी उत्तरा थेरी ने अपना कदम पीछे हटाया, वह पीछे हटना चाहती थी, चीवर में सुआच्छादित थी, शरीर वृद्ध था, वह डगमगाकर गिर पड़ी, भगवान उसके पास आए, उसे संयत किया और बोले—

“बहिन ! यह शरीर जीर्णशीर्ण हो चुका है, ज्यादा समय नहीं बचा है, यह शरीर बिखर जायेगा और मृत्यु आ जायेगी। यह शरीर, यह रूप सब जराजीर्ण है, रोगों का घर है और क्षणभंगुर है। दुर्गन्ध से भरा यह शरीर नष्ट हो जाता है, खण्ड-खण्ड हो जाता है फिर जीवन शेष नहीं रहता है, क्योंकि मृत्यु-पर्यन्त ही जीवन है। अन्त में सभी का मरण आवश्यक है। यह

प्रतीत्य-समुत्पाद है। द्वादश निदान का यही नियम है। जीवन से मृत्यु-पर्यन्त यह चलता है। फिर नया क्रम शुरू होता है।" उन्होंने यह गाथा कही—

**148. परिजिण्णमिदं रूपं, रोगनिद्ध पभंगुरं।
भिज्जति पूतिसन्देहो, मरणन्तं हि जीवितं॥ 11.3॥**

अर्थ : यह रूप जीर्ण, रोगों का घर और भंगुर है। यह गंदा शरीर विनाश को प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः जीवन मृत्यु को प्राप्त होता ही है।

शब्दार्थ : परिजिण्णं = जीर्ण-शीर्ण। रोगनीद्ध = रोगों का घर। पभंगुरं = क्षण-भंगुर। भिज्जति = नष्ट हो जाता है। पूतिसन्देहो = पूति (दुर्गन्ध) + सन् + देहो (शरीर)- दुर्गन्ध वाला शरीर, अथवा पूति: (पवित्रता) में सन्देह अर्थात् जिसकी पवित्रता में सन्देह है।



वग्ग 11, गाथा 4



रति कैसी ?

(अधिमानक भिक्खुओं की कथा, स्थान—जेतवन)

149. एक बार पांच सौ भिक्खुओं ने भगवान से ध्यान-विपश्यना की शिक्षा ग्रहण कर वन में प्रवेश किया, वहां पर काफी अभ्यास के बाद वे एकाग्रचित्त हुए। उनके मन में अभिमान हुआ कि बिना किसी ज्यादा हील-तकलीफ के उन्होंने धम्म-परायण किया है और पुण्य प्राप्त किया है। हमें यह बात भगवान को बतानी चाहिये। ऐसा सोचकर वे जेतवन गए, जहां तथागत सम्यक्सम्बुद्ध विहरते थे।

ज्योंही वे विहार के द्वार तक पहुंचे, भगवान ने कहा, "आनन्द ! उन भिक्खुओं को कहो कि पहले वे श्मशान में जायें और जलती हुई लाशों को देखकर आयें, उसके बाद वे मेरे पास आवें।" आनन्द ने उन भिक्खुओं को भगवान का आदेश सुनाया। भिक्खु वहां से सीधे श्मशान घाट पहुंचे। वहां उन्होंने बहुत वीभत्स दृश्य देखा, लाशों के ढेर लगे थे, उनसे दुर्गन्ध आ रही थी, पीप निकल रही थी। उनको अनुभव हुआ कि उनमें अभी तक कुछ अनुशय बाकी है। भगवान ने उस समय कहा, "हमारा शरीर हड्डियों का कंकाल हैं, यह मांस-मज्जा से सज्जित है। इसमें तुम आनन्द की अनुभूति करते हो, यह स्थायी नहीं है। शरद काल में गुणहीन लौकी के समान, कबूतर के रंग वाली इन अस्थियों को देखकर इसमें कैसा प्रेम, कैसा अनुराग, कैसी आसक्ति, कैसी रति ?" तब शास्ता ने यह गाथा कही—

**149. यानि'मानि अपत्थानि, अलाबूनेव सारदे।
कपोतकानि अट्ठीनि, तानि दिस्वान का रति॥ 11.4॥**

अर्थ : शरद-काल में फेंकी गई लौकी की भांति या कबूतर की सी सफेद हो गई उन हड्डियों को देखकर उनके प्रति किसको रति होगी ?

शब्दार्थ : अपत्थानि = गुणहीन। सारदे = शरद ऋतु में। अट्ठीनि = अस्थियों को। दिस्वान = देखकर।

शरीर हड्डियों का नगर है

(जनपद-कल्याणी रूपनन्दा थेरी की कथा, स्थान—जैतवन)

150. महापजापति गोतमी की पुत्री नन्दा जनपदकल्याणी थी। अपने अनुपम रूप के कारण लोग उसे रूप-नन्दा कहते थे। उसके शरीर-सौष्ठव और रूप-लावण्य का कोई सानी नहीं था। वह अनिन्द्य सुन्दरी थी—उसे सुन्दरी नन्दा भी कहते थे। भगवान जब कपिलवत्थु प्यारे, तो उसने अपनी आंखों के सामने देखा— राहुल को प्रव्रज्या लेते हुए, नन्द को प्रव्रज्या लेते हुए। महाराज शुद्धोदन की मृत्यु हो चुकी थी, महापजापति गोतमी ने भी प्रव्रज्या ग्रहण कर ली थी। क्षत्रिय कुल था उनका, आमोद-प्रमोद का जीवन था—सभी ने प्रव्रज्या ले ली, सभी ने सुख त्याग दिया। अनित्य, अनात्म और दुख का धम्म श्रवण कर लोग अपने को धन्य कर रहे थे।

रूपनन्दा ने यह सब देखा, अनुभूत किया। अब पूरे परिवार में वह अकेली रह गयी थी। घर पर भी ऐसा कोई विशेष काम नहीं रह गया था। उसने निश्चय किया, वह भी प्रव्रजित हो जायेगी, अपने सगे-सम्बन्धियों के बीच रहेगी। उसकी प्रव्रज्या में सम्बन्धों का यह आकर्षण ही प्रमुख कारण था, अन्य कोई दूसरा प्रेरक नहीं था। धर्म का आकर्षण उसे था नहीं, रूप के अभिमान में चूर थी, कुल के रक्त का स्नेह उसे पुकार रहा था। अस्तु, वह चल दी, प्रव्रजित हो गयी, भिक्षुणी बन गयीं।

रूपनन्दा सुनती थी— भगवान हमेशा अनित्यता की देशना करते हैं, क्षण भंगुरता की बात करते हैं। शरीर नित्य नहीं है, रूप सनातन नहीं है। रूप के उपादान में उलझना, अपने आप को बेड़ियों में जकड़ना है, आसक्ति में डूबना है, अनुशयों के घर को बढ़ाना है, और दुख को आमन्त्रित करना है। वह भला ऐसी बातें कहां सुनने वाली थी। वह रूप की साक्षात् मूर्ति थी, रूप की पुजारिनी थी। अस्तु, भिक्षुणी बनने के बाद भी वह भगवान के सम्मुख अभी तक नहीं गयी थी। भगवान के वचनामृत को सुनना उसके लिए अपने अभिमान को तिरोहित करना था। उसके रूप की महिमा को गिराना था। वह भिक्षुणियों के बीच में तो रहती ही थी, अन्य भिक्षुणियां भगवान के वचनामृत सुनने नियमित जाती थीं, वापस आकर उस पर चर्चा भी करती थीं। रूपनन्दा उसे सुनती, भिक्षुणियों के मुंह से भगवां की प्रशंसा सुनती, महिमा सुनती। धीरे-धीरे उसके मन में भी भगवान के साक्षात् प्रवचन सुनने का बीज प्रस्फुटित होने लगा। अस्तु, एक दिन उसने भी विहार जाना तय कर ही लिया।

भगवान बुद्ध सर्वज्ञ थे। वे जानते थे, इस रूपवती को धम्म की बात किस प्रकार से समझायी जा सकती है। कांटे को निकालने के लिए कांटे की ही जरूरत होती है। भगवान विहार में थे, रूपनन्दा अन्य भिक्षुणियों के साथ बैठी थी, भगवान धम्म प्रवचन देने लगे। नन्दा को आभास हुआ, उसे दिखाई दिया एक अनिन्द्य सुन्दरी भगवान को पंखा झल रही है। उसने अनुभूत किया

कि वह तो मुझसे भी बहुत सुन्दर है। उसको अपनी सुन्दरता उस सुन्दरी के आगे कुछ भी नहीं लगी। वह उस सुन्दरी अप्सरा को निहारने लगी। भगवान को पंखा झलने वाली सुन्दरी कल्पित थी, वह रूपनन्दा की दृष्टि में थी, भगवान के आसन के पास थी।

रूपनन्दा क्या देखती है कि वह युवती बड़ी होती है, जवान होती है, बुढ़ी होती है। उसका अंग-अंग ढीला पड़ता हुआ उसे नजर आया, बाल सफेद होते हुए नजर आए, दांत गिरते हुए दिखने लगे। रूपनन्दा यह सब देख रही थी, सोच रही थी। उसे दिखा कि वह अनिष्ट सुन्दरी भी मृत्यु के वशीभूत हो गयी, उसके नौ द्वारों से स्राव बहने लगा। मक्खियां भिनभिनाने लगीं। उसे अपने शरीर का ध्यान आया, अपना शरीर देखा और आभास हुआ, उसे अन्तर्दृष्टि मिल गई कि यह शरीर अनित्य है, रूप अनित्य हैं। उस सुन्दरी के शरीर में हुए परिवर्तन को देखकर, रूप के वास्तविक स्वरूप को जानकर उसमें वैराग फूट पड़ा। वह सोचने लगी, यह युवती मेरे सामने बड़ी हुई, जवान हुई, ललना हुई, बुढ़ी हुई और मर गयी। अरे ! मेरी आंखों के सामने यह घटित हुआ, वह अवधान कर चुकी थी कि मेरा शरीर भी बुढ़ा होगा, विनाश को प्राप्त होगा, मेरी भी यही गति होगी। इस प्रकार उसे स्कन्धों की प्रकृति का आभास हो गया।

भगवान प्रवचन दे रहे थे, बोले, “नन्दा सुनो ! शरीर व्याधि-मन्दिर है। अशुचि है, एकाग्र एवं स्थिर चित्त समाधि में स्थित कर। उसमें चित्त को स्थिर कर जो दृष्टि को अच्छा नहीं लगता है। जैसे मेरा शरीर वृद्ध हो गया है, वैसे तुम्हारा शरीर भी वृद्ध होगा। इस शरीर के सौन्दर्य का यही परिणाम है। यही तुम्हारे शरीर के सौन्दर्य का परिणाम होगा। यह शरीर दुर्गन्धमय है, अपवित्र है, केवल अज्ञानी पुरुष इसे अभिनन्दनीय समझते हैं।” भगवान बोले, “यह हड्डियों का एक नगर बनाया गया है, जो मांस और रक्त से लेपा गया है, जिसमें वृद्धावस्था, मृत्यु, अभिमान और असूया का निवास है। इससे मुक्त हो जाओ !” नन्दा की आंखें खुल गयीं, सत्य का साक्षात्कार हुआ। उसने भगवान को नमन किया, अभिनन्दन किया। भगवान ने इस अवसर पर यह गाथा कही—

150. अट्टीनं नगरं कतं, मंसलोहितलेपनं।

यत्थ जरा च मच्चु च, मानो मक्खो च ओहितो॥ 11.5॥

अर्थ : यह नगर हड्डियों का बना है, जो मांस और रक्त से लेपा गया है; जिसमें जरा, मृत्यु, अभिमान और डाह छिपे हुए हैं।

शब्दार्थ : अट्टीनं = अस्थियों का। मानो = अभिमान। मक्खो = पाखण्ड। ओहितो = छिपा है।



वग्ग 11, गाथा 6



सन्तों का धर्म समयातीत नहीं होता

(मल्लिका देवी की कथा, स्थान—जेतवन)

151. राजा पसेनदि की रानी मल्लिका अपने हाथ-मुंह धोने स्नानागार में गयी हुई थी, उसका पालतू कुत्ता भी उसके साथ स्नानागार में घुस गया। कुत्ता रानी से किलौले करने लग गया। राजा

पसेनदि अपने शयनागार के झरोखे से इसे निहार रहे थे। रानी जब वापस आयी तो राजा ने उससे पूछा, “अरी रानी ! तुम कुत्ते के साथ क्या कर रही थीं ?” रानी ने बताया कि वह अपने हाथ धो रही थी, पैर धो रही थी और मूंह धो रही थी, बस..... यह स्नानागार ही ऐसा है कि इसमें कोई एक जाता है तो खिड़की से दो दिखते हैं। अगर आप विश्वास नहीं करते हो तो आप अन्दर जाइये, मैं देखती हूँ। राजा स्नानागार में गया। रानी ने कहा, “अरे राजन् ! आप बकरी के साथ क्या कर रहे हो ?” राजा बाहर आया, उसने सोचा यह स्नानागार ही ऐसा है।

मूल बात यह है कि रानी ने राजा से झूठ बोला था। रानी अपने इस असत्य भाषण से सन्तप्त रहने लगी। इस असत्य भाषण ने उसका मरते दम तक पीछा नहीं छोड़ा और उसका यह पछतावा बार-बार मनोविधि से उसके चित्त को आ घेरता था। इस सन्ताप को लिए ही वह मर गयी और निरय में पैदा हुई। राजा ने भगवान से उसकी गति जाननी चाही। भगवान ने उसे कुछ नहीं बताया। कुछ समय पश्चात् रानी तुषित् लोक के भव में उत्पन्न हुई। राजा पसेनदि अपने महल में थे, भगवान बुद्ध भिक्षाटन हेतु निकले हुए थे, वे राजा के द्वार पर गए। भगवान ने आराम की इच्छा जतायी और जहां पुराने रथादि पड़े थे, वहीं आराम करने बैठ गए।

राजा पसेनदि ने पुनः वही प्रश्न पूछा, “भगवान ! मल्लिका का भव कैसा है ?” भगवान बोले, “राजन्। वह तुषित् लोक में है। ऐसा कह भगवान उन्हें अनित्यता का उपदेश देने लगे। वे बोले, “जिस प्रकार राजाओं के ये चित्रित रथ जीर्ण हो जाते हैं, उसी प्रकार यह शरीर भी वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। पर, सज्जन पुरुषों का धर्म कभी वृद्धावस्था को प्राप्त नहीं होता है। सज्जन पुरुष सज्जन पुरुषों से ऐसा बतलाते हैं। सन्तों का धम्म कभी बुझा नहीं होता है, यह सनातन है। सदा से चलता आया है। धम्म ही अन्तिम सत्य है। वह कभी पुराना नहीं होता है। सन्त लोग सन्तों से ऐसा ही कहते आए हैं।” ऐसा कहते हुए तथागत ने यह गाथा कही—

151. जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता, अथो सरीरम्पि जरं उपेति।

सतं च धम्मो न जरं उपेति, सन्तो ह वे सग्धि पवेदयन्ति॥ 11.6॥

अर्थ : राजा के सुचित्रित रथ पुराने हो जाते हैं तथा यह शरीर भी पुराना हो जाता है, किन्तु सन्तों का धर्म कभी पुराना नहीं होता। सन्त लोग सन्तों से ऐसा ही कहते हैं।

शब्दार्थ : जीरन्ति = जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं। सतं = सज्जनों का। सग्धि = सत्पुरुषों से। पवेदयन्ति = बताते हैं।



वग्ग 11, गाथा 7



अल्पश्रुत के मांस बढ़ते, प्रज्ञा नहीं

(लाल उदायी थेर की कथा, स्थान—जेतवन)

152. भगवान बुद्ध के भिक्षुसंघ में लाल उदायी नामक एक भिक्षु था, वह मूढ़ मति था। उसका चित्त स्थिर नहीं रहता था। मन कहीं भटकता था और वह करता कहीं कुछ और था।

कहता कुछ और तथा करता कुछ और था। हंसने की जगह वह रो पड़ता और रोने की जगह हंस पड़ता। इन सब के बावजूद वह कभी यह नहीं मानता था कि वह असंगत कृत्य कर रहा है। भगवान ने एक दिन उसको इंगित करते हुए कहा, "यह अल्पज्ञान प्राप्त किया हुआ मनुष्य बैल के समान बढ़ता है। उसका मांस बढ़ता है, पर उसकी प्रज्ञा नहीं बढ़ती है। अल्पज्ञ मनुष्य बैल की तरह बुद्धा हो जाता है, उसका मांसल शरीर बढ़ जाता है, परन्तु बुद्धि नहीं बढ़ती है।" ऐसा कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

152. अप्पस्सुतायं पुरिसो, बलिवद्धो'व जीरति।

मंसानि तस्स वड्ढन्ति, पज्जा तस्स न वड्ढति॥ 11.7॥

अर्थ : यह अल्पश्रुत पुरुष बैल की तरह बढ़ता है। उसके मांस तो बढ़ते हैं, किन्तु उसकी प्रज्ञा नहीं बढ़ती।

शब्दार्थ : अप्पस्सुतायं = यह अल्पज्ञ। बलिवद्धो = बैल।



वग्ग 11, गाथा 8-9



अर्हत्त्व प्राप्त हो गया

(आनन्द थेर के लिए उदान की कथा, स्थान—बोधिरुक्खमूल)

153-154. भगवान बुद्ध ध्यानरत थे— बोधिवृक्ष के नीचे, सुसंयत थे, वहीं उनको बोधिलाभ हुआ था। सूर्यास्त होते-होते उन्होंने मार की सेना को पराजित कर दिया, पहले पहर में अन्धेरे को दूर भगा दिया, पूर्व जन्मों के बीजों को नष्ट कर दिया, दूसरे पहर में उन्हें दिव्य चक्षु प्राप्त हुए और अन्तिम पहर में करुणा का सागर हिलौरे लेने लगा। उन्होंने अपना ध्यान प्रतीत्यसमुत्पाद पर अवधारित किया। उसे अनुलोम और प्रतिलोम क्रम में ज्ञेय किया और इस प्रकार पूर्ण प्रकाशवान बने, बुद्ध बने। उस समय भगवान के मुख से यह अहल्लाद गाथाएं निकलीं, वे बोल पड़े, "मैं अनवरत अनेक जन्मों तक इस संसार में पड़ता रहा, जन्म लेता रहा, दौड़ता रहा। इस कायारूपी घर को बनाने वाले गृहकारक-तृष्णा को खोजते पुनः पुनः दुखमय जन्म में पड़ता रहा। बार-बार का जन्म दुखमय हुआ। हे घर बनाने वाले! अर्थात् तृष्णा मैंने तुम्हें देख लिया है, तुम अब घर नहीं बना पाओगे। तुम्हारी सब कड़ियां (बारहों निदान) टूट गयी हैं। घर का शिखर (अविद्या) ढह गया है, चित्त संस्कार से रहित हो गया है, तृष्णाओं का नाश हो गया है।" इस प्रकार मनन करते हुए शास्ता ने ये गाथाएं कहीं—

153. अनेकजातिसंसारं, सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।

गहकारकं गवेसन्तो, दुक्खा जाति पुनप्पुनं॥ 11.8॥

अर्थ : बिना रुके अनेक जन्मों तक इस संसार में दौड़ता रहा। (इस काया रूपी) गृह को बनाने वाले (=तृष्णा) को खोजते पुनः पुनः दुख (-मय) जन्म में पड़ता रहा।

154. गहकारक ! दिट्ठोसि, पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा, गहकूटं विसंखतं।
विसंखारगतं चित्तं, तण्हानं खयमज्झगा।। 11.9।।

अर्थ : हे गृहकारक ! (=तृष्णे !) मैंने तुझे देख लिया, (अब) फिर तू घर नहीं बना सकेगा। तेरी सभी कड़ियां भग्न हो गयीं, गृह का शिखर गिर गया। चित्त संस्काररहित हो गया। अर्हत्त्व (=तृष्णा-क्षय) प्राप्त हो गया।

शब्दार्थ : संधाविस्सं = दौड़ता रहा। अनिब्बिसं = बिना ज्ञान प्राप्त किए (जाणं अविन्दन्तो अलभन्तो—युद्धघोस)। काहसि = करोगे। गहकूटं = घर का शिखर अर्थात् बारह निदानों की कोटि अविद्या। विसंखारगतं = टूट गया है। तण्हानं = तृष्णाओं का। खयमज्झगा = क्षय हो गया है।



वग्ग 11, गाथा 10-11



ब्रह्मचर्य या धन के बिना बुढ़ापे में चिन्ता

(महाधनी सेठ के पुत्र की कथा, स्थान—इसिपतन (वाराणसी))

155-156. वाराणसी में महाधनी सेठ के एक पुत्र था, उसने पढ़ाई लिखायी नहीं की थी, धन-दौलत की कोई कमी नहीं थी। वह बड़ा हुआ तो उस महाधनी सेठ ने अपने पुत्र की शादी कर दी। महाधनी के पुत्र की तरह ही वह युवती भी पढ़ी-लिखी नहीं थी। दोनों अनपढ़ थे, दोनों ही गृहस्थ बन गए, उनकी जोड़ी बन गयी। समय आया, दोनों के माता-पिता मर गए। दोनों मातृ-पितृ विहीन हो गए। उनको विरासत में दोनों घरों से अस्सी-अस्सी करोड़ मुद्राएं मिलीं। दोनों यह नहीं जानते थे कि इस धन का किस प्रकार सदुपयोग किया जाय। अस्तु, वे खूब आमोद-प्रमोद करते और पानी की तरह पैसों को बहाने लगे। धन कितना ही हो अगर उसमें आवक नहीं हो और खर्च ही खर्च होता रहता हो, तो एक न एक दिन उसे खत्म होना ही होता है, वैसा ही उनके साथ भी हुआ। पूरा धन व्यय हो गया। महाधनी सेठ के पुत्र और उनकी भार्या ने खेत-खलिहान बेचे, बाग-बगीचे बेचे, सब कुछ बेच दिया और आखिर में ऐसा वक्त आया कि उनको अपना पुश्तैनी घर भी बेचना पड़ा और खाने पीने के लाले पड़ने लगे। वे निराश्रय, बेसहारा हो गए और जीवनयापन के लिए दर-दर भटकने लगे।

एक दिन भगवान इसिपतन में विहरते थे, उन्होंने उस महाधनी सेठ के पुत्र को विहार की दिवार के पास झुका हुआ देखा। वह सामनेरों द्वारा फेंके गए जूठन को चाट रहा था, खा रहा था। भगवान मुस्कराये, आनन्द ने उसका कारण जानना चाहा। तब भगवान ने कहा, "आनन्द ! इस महाधनी सेठ के पुत्र को देखो ! इसने व्यर्थ ही जिन्दगी गवां दी, उद्देश्यहीन आनन्द में जीवन को नष्ट कर लिया है। अगर इसने अपने जीवन के प्रथम चरण में अपने पुरखों के धन की देखभाल की होती, तो आज यह सबसे धनी व्यक्ति होता और उस समय प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षु बनता तो वह अर्हत्त होता और उसकी पत्नी अनागामी होती।

जिन्दगी के दूसरे मोड़ पर भी अगर वह चेतता और अपने धन को सम्भालता तो धनवानों में दूसरे स्थान का धनी होता और अगर भिक्खु बनता तो वह अनागामी होता और इसकी पत्नी सकृदागामी होती। अगर जीवन के तीसरे पड़ाव में भी इसको अपने धन का ख्याल आता और सम्भलता तो वह धनवानों में तीसरे स्थान का धनी व्यक्ति होता और अगर भिक्खु बनता तो वह सकृदागामी होता और उसकी पत्नी सोतापन्न होती। लेकिन इसने इन तीनों ही अवस्थाओं में कुछ नहीं किया और निठल्ला बैठा रहा। उसने मार्ग और मार्गफल से प्राप्त होने वाले सभी अवसरों को खो दिया है। तथागत आगे बोले, "ब्रह्मचर्य का आचरण न कर और युवावस्था में धन न प्राप्त कर मनुष्य वृद्धावस्था में उसी प्रकार चिन्ता करते हैं, जैसे मछली रहित तालाब में बूढ़ा क्रौंच। जिन लोगों ने ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया है और युवावस्था में धन की प्राप्ति नहीं की है, वे लोग टूटे हुए धनुष के समान अतीत की बातों को कहते हुए पड़े रहते हैं।" ऐसा कहते हुए भगवान ने इसिपत्तन में ये गाथाएं कहीं—

155. अचरित्वा ब्रह्मचरियं, अलद्धा योव्वने धनं।

जिण्णकोज्जो'व ज्ञायन्ति, खीणमच्छे'व पल्लले॥ 11.10॥

अर्थ : ब्रह्मचर्य का बिना पालन किए, जवानी में बिना धन को कमाये, (मनुष्य) मछलियों से क्षीण जलाशय में बूढ़े क्रौंच पक्षी की भांति (वृद्धावस्था में) चिन्ता को प्राप्त होते हैं।

156. अचरित्वा ब्रह्मचरियं, अलद्धा योव्वने धनं।

सेन्ति चापातिखीत्ता'व, पुराणानि अनुत्थुनं॥ 11.11॥

अर्थ : ब्रह्मचर्य को बिना पालन किए, जवानी में बिना धन को कमाये, (मनुष्य वृद्धावस्था में) धनुष से छोड़े गए बाण की भांति अपनी पुरानी बातों को ही कह-कहकर चिन्तित होते हुए सोते हैं।

शब्दार्थ : अलद्धा = प्राप्त न करके। योव्वने = युवावस्था में। जिण्णकोज्जो' व = वृद्ध क्रौञ्च की तरह। ज्ञायन्ति = चिन्ता करते हैं। पल्लले = तालाब में। सेन्ति = पड़े रहते हैं। अनुत्थुनं = सोचते हुये।

